Chapter-5

पंचम अध्याय

धार्मिक पक्ष

प्रस्तावना

धर्म से गांधीजी का अभिप्राय

सियारामशरणजी के काव्य में व्यक्त धर्म का स्वरूप

कविता में नैतिक शक्तियों की अभिव्यक्ति - पाँच व्रतों की महत्ता

उपसंहार ।

प्रस्तावना :

गांधीवाद एक व्यापक जीवन दर्शन है अत: वह केवल सत्य अहिंसादि सैध्दांतिक प्रश्नों पर ही विचार नहीं करता, बल्कि दैनिक जीवन की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। आध्यात्मिक पक्ष के समान धार्मिक पक्ष पर भी गांधीजी ने व्यापक रूप से विचार किया है। जिस धर्म को प्राचीन काल से गूढ़ातिगूढ़ कहकर जटिल बना दिया गया था उस धर्म को आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सरल तथा सहज रूप में हमारे सामने रखने का स्तुत्य प्रयास किया।

धर्म से गांधीजी का अभिप्राय :

व्यावहारिक भाषा में धर्म को नीति से पृथक् समझा जाता है। सामान्यत: नियमित पूजा अर्चना करनेवाले व्यक्ति को हम धार्मिक कहते हैं, चाहे वह लोभी, क्रोधी एवं ईर्ष्यालु क्यों न हो। किंतु गांधीजी धर्म को नीति से भिन्न नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वही व्यक्ति धर्मात्मा कहलाने योग्य है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि कुत्सित भावनाओं से रहित हो।

गांधीजी धर्म को बुध्दिग्राहय न मानते हुए ह्रदयग्राहय मानते हैं। अत: उनकी दृष्टि में धर्म को प्राप्त करने के लिये उच्चतर शिक्षा या महान धर्मग्रंथों को पढ़ना अनिवार्य नहीं है। इस विषय में उनका कहना है -"धर्म वस्तुत: बुध्दिग्राहय नहीं, ह्रदयग्राह है। वह हमसे अलग कोई चीज नहीं। परंतु वह ऐसी वस्तु है जिसे हमें अपने अंदर से ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अंतर में ही है। .... धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह है, उसे मनुष्य स्वयं ही रख सकता है और स्वयं ही खोता है। समुदाय में ही जिसकी रक्षा की जा सके, वह धर्म नहीं मत है।"[१] स्पष्ट है कि गांधीजी के लिये धर्म आत्मतत्त्व का अंश और सत्य दर्शन का साधन है। अत: जिन विधाओं, आधार संहिताओं एवं सिध्दांतों व्दारा इन्द्रिय लोलुपता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, व्देष का दमन हो और सात्त्विक वृत्तियों का उद्रेक हो, तथा सदाचारपूर्ण जीवन का विकास हो, उसे भी वे धर्म का ही स्वरूप मानते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म ही वह सोपान है जिससे मनुष्य सत्य तक पहुँच सकता है।

धर्म की सार्वभौमिकता पर विचार करते हुए गांधीजी उसे सनातन मानते हैं। उनके अनुसार धर्म के बाहरी रूप, मत, संप्रदाय, विधियों आदि आचार बदलते रहते हैं। किंतु मूल धर्म सब काल और सब देश में एकसा है। उसका नाम और रूप भिन्न हो सकते हैं, किंतु उसका मूल तत्त्व एक ही है। "सच्चा औरपूर्ण धर्म तो एक ही है, परंतु जब वह मानव के माध्यम से व्यक्त होता है तब अनेक रूप ग्रहण कर लेता है।"[२] इसलिये "प्राचीन भारतीय परंपराने हमें केवल सहिष्णुता का सबक ही नहीं पढ़ाया वरन् सभी धर्मोंका आदर करना भी सिखाया है।"[3]

गांधीजी हिन्दू धर्म को ही नहीं, अन्य धर्मों को भी श्रेष्ठ मानते थे। वे कभी भी धर्म परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते थे क्योंकि उनका मानना था कि मोक्ष पाने या स्वर्ग जाने के लिये ईसाई बनना आवश्यक नहीं है। वास्तव में सब धर्म सच्चे और निर्दोष हैं। इसीलिये गांधीजी चाहते थे कि एक

---

१. गांधीवाद की रूपरेखा :'महात्मागांधी और धर्मतत्त्व'- श्री. रामनाथ'सुमन'- पृ. ३७

२.'सर्वधर्म समभाव': गांधीविचार रत्न : पं. महिदयाल जैन : पृ. ९२

३. गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव,'प्रस्तावना' सम्पादित सस्ता साहित्य मण्डल : पृ. १

ईसाई अच्छा ईसाई बने और एक मुसलमान अच्छा मुसलमान बने। सब धर्मों को समानता की दृष्टि से देखने के साथ साथ उनमें ग्रहण करने योग्य हर नीति को बिना किसी संकोच के ग्रहण करना वे उचित मानते थे। वे धर्म में किसी भी प्रकार की संकुचित भावना या भेदभाव को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका धर्म सभी आडम्बरों एवं कुरीतियों से परे था तथा धर्म विषयक उनका दृष्टिकोण अत्यंत उदार था।

गांधीजी नीतियुक्त धार्मिक जीवन पर ही अधिक बल देते थे। नीति को जीवन का अभिन्न अंग स्वीकार कर उन्होंने उसे मानव जीवन के विकास के लिये अनिवार्य बताया। गांधीजी के शब्दों में "सच्ची नीति में, बहुत अंशों में धर्म का समावेश हो जाता है।"[१] धार्मिक विद्वेष को मिटाने का एकमात्र उपाय है उदार धार्मिक भावना। अकर्मण्यता धर्म नहीं है। लोकसेवा या मानव की सच्ची सेवा ही धर्म है। अतः गांधीजीने धार्मिक व्यक्ति को निष्काम कर्मयोगी बनने का आदेश दिया है। कर्म के व्दारा ही वह प्रभु के दर्शन पा सकता है। अकर्मण्य बनकर धर्म का आडम्बर करना अपने को और समाज को धोखा देना है।

गांधीजी के धर्म में रामनाम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे सदैव यह बात स्पष्ट रूप से कहते थे कि उन्हें ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है। जिस तरह उनका धर्म अत्यंत व्यापक है उसी प्रकार उनका ईश्वर एक ही है, जो खुदा, रहीम और राम है। गांधीजी के राम किसी जाति या वर्ग विशेष के राम नहीं है, वे तो संपूर्ण समाज के राम हैं, जिनके राज्य में अमीर-गरीब, छूत-अछूत, हिन्दू मुसलमान सब एक है।

गांधीजी धर्मप्राण व्यक्ति थे। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म और नीतिका समावेश करना चाहते थे। धार्मिक कट्टरता एवं भेदभाव के परिणाम स्वरूप मध्ययुग में देश को जिस राजनैतिक दासता का मुँह देखना पड़ा था, उसे दूर करने का प्रयत्न वे सदा करते रहे। यह समय की माँग थी कि हम जातिगत

----

१. गांधीवाद की रूपरेखा : श्री. रामनाथ सुमन : पृ. ३९

धार्मिक दोषों से मुक्त हों तथा सच्चे धार्मिक पथ पर अग्रसर हों। गांधीदर्शन से प्रभावित कवियों ने धार्मिक कुरीतियों तथा धर्म के नाम पर किये जानेवाले पापाचारों की कटु आलोचना की और दूसरी ओर जनता के सम्मुख धर्म के वास्तविक रूप को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने धर्म को व्यापकता प्रदान कर उसे सर्वग्राहय बनाकर सच्चे मानव धर्म की प्रतिष्ठा की। सियारामशरणजी ने भी गांधीजी के धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर सब धर्मों की मूलभूत एकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया तथा धर्म के संबंध में अपने व्यापक विचार 'नोआखली में' एवं 'आत्मोत्सर्ग' रचनाओं में प्रकट किये। अब हम सियारामशरणजी के काव्य में अभिव्यक्त धार्मिक पक्ष का अनुशीलन करेंगे।

सियारामशरणजी के काव्य में व्यक्त धर्म का स्वरूप :

सियारामशरणजी आस्तिक संस्कारों से संपन्न एक धर्मप्राण व्यक्ति थे। उनकी ईश्वर में अटूट आस्था थी। आस्तिक संस्कारों के कारण ही वे गांधीदर्शन के अत्यधिक निकट आ सके। उनकी यह आस्तिकता अंध आस्तिकता नहीं है। वे धर्म के बाहय पाखण्ड के समर्थक नहीं है। उनका धर्म सही अर्थों में में मानव धर्म है। हिन्दू मुसलमानों की अंध धार्मिकता पर उन्होंने तीखे व्यंग्य किये हैं :

"आपस में एक दूसरे के सिर फोड़कर,
गर्दन मरोड़ कर,
धर्म के उबार लिये प्राण धर्म-प्राणों ने।"[१]

गुप्तजी की दृष्टि में पीड़ितों को पीड़ा पहुँचाना धर्म नहीं है। अछूत के मंदिर में प्रविष्ट होने पर भगवान के भक्त दुखी होकर यह कहते हैं :

पापी ने मंदिर में घुसकर
किया अनर्थ बड़ा भारी;

---

१. आर्द्रा : 'अग्नि परीक्षा' : पृ. ६५

कलुषित कर दी है मंदिर की
चिरकालिक शुचिता सारी ।"[1]

जिस मंदिर की पवित्रता एक अछूत के मंदिर में प्रवेश करने से नष्ट हो जाती हो, वह धर्म दूसरों को पवित्र करने की क्षमता कैसे रख सकता है ?

वास्तवमें सियारामशरणजी की धर्म संबंधी भावना अत्यंत व्यापक और उदार है। उन्होंने गांधीजी के समान धार्मिक सहअस्तित्व की भावना पर ही जोर दिया है। वे विश्वधर्म के समर्थक हैं। धर्म के नाम पर आडम्बर करनेवाले पाखण्डियों पर उन्होंने कटु प्रहार किये हैं। 'एक फूल की चाह' में गुप्तजी ने कैदियों व्दारा अछूत से मस्जिद और गिरिजाघर की चर्चा कराकर हिन्दू समाज की रुढ़िवादिता पर कुठाराघात किया है :

"कैदी कहते - अरे मूर्ख, क्यों
ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी
दूर न था गिरजाघर भी ।"[2]

स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि में मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर सब एक समान हैं। मनुष्य रुढ़िवादिता के चक्कर में पड़कर सभी धर्मों को अलग अलग समझ बैठा है और किसी धर्म विशेष के प्रति अत्यधिक आग्रह रखता है जो उचित नहीं है। केवल मंदिर पर ही ममता रखना मूर्खता है। 'आत्मोत्सर्ग' में कवि ने धार्मिक एकता की ओर संकेत करते हुए समन्वय का प्रयास ही किया है। इसमें कानपुर के सांप्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में कवि ने विधार्थीजी के उत्सर्ग की करुण कथा अंकित की है तथा धार्मिक संकीर्णता की निंदा करते हुए हिन्दू मुसलमानों के धर्म की कट्टरता, धर्मांधता एवं अंधविश्वास पर भी प्रहार किया है।

---

१. आर्द्रा : 'एक फूल की चाह' : पृ. ५९-६०
२. वही : पृ. ६२

काव्य के प्रारंभ में कवि ने हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य का चित्र अंकित किया है। विद्यार्थीजी अपने कक्ष में बैठे हुए देश की स्थिति पर विचार कर रहे हैं। उनके मुख पर चिंता छाई हुई है। तभी उनके मित्र वहाँ आकर उन्हें यह दु:खद समाचार सुनाते हैं कि सर्वत्र हड़ताल चल रही है तथा मुसलमानों की दशा चिंताजनक है। यह समाचार सुनकर विद्यार्थीजी विचलित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में मुसलमान एवं हिन्दू एक समान हैं। अत: उन्हें यह सहय नहीं कि हम जातीयता के चक्कर में पड़कर अपने ही भाइयों पर जोर आजमायें। उन पर जुल्म ढायें। वें मुसलमानों पर जोर आजमाना नीतिरहित कार्य मानते हैं। सहसा उन्हें यह समाचार मिलता है कि हिन्दू मुसलमान उत्तेजित हो आपस में लड़ झगड़ कर अपना सिर फोड़ रहे हैं। यह समाचार सुनकर विद्यार्थीजी तत्काल उस स्थान की ओर दौड़ पड़े जहाँ भारी भीड़ एकत्र हो गई थी। विद्यार्थीजी को यह सहय नहीं था कि हिन्दू मुसलमान व्यर्थ ही जातीयता के चक्कर में पड़कर खून की होली खेलें। अत: उन्होंने दोनों ही जातियों को ललकारते हुए कहा :

"सुनो, सुनो, अंधे बनते हो
क्यों अपनी आँखें खोले ?
अरे भाइयों, कुछ तो सोचो,
यह क्या करने जाते हो;
शत्रु नहीं सम्मुख हैं भाई;
किन पर हाथ उठाते हो ?"[1]

गांधीजी का कथन था कि सब धर्मों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाने पर ही हम धर्म के मर्म को समझ सकते हैं। धर्मांधता उन्हें अप्रिय थी। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुलते हैं। धर्मांधता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अंतर है। धर्मज्ञान के होने पर अंतराय मिट

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. १८

जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस भाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।"[1] गांधीजी के समान सियारामशरणजी का भी सभी धर्मों की श्रेष्ठता में पूर्ण विश्वास है। उनका मानना है कि कोई भी धर्म बुरा नहीं होता। कोई भी ऋषिमुनि या पैगम्बर कभी भी लूटमार करके औरों को क्लेश पहुँचाकर उत्पात करने का उपदेश नहीं देता। कोई भी मजहब पापाचार करना नहीं सिखलाता। इस प्रकार के पारस्परिक प्रहार से ही धर्म की हानि होती है। कवि ने अपने इन विचारों को विद्यार्थीजी के माध्यम से व्यक्त किया है :

"किस ऋषि ने, किस पैगम्बरने
दिया तुम्हें है यह आदेश,
लूटमार, उत्पात करो यों
पहुँचाकर औरों को क्लेश ?
कोई दीन नहीं सिखलाता
इस प्रकार का पापाचार;
हानि धर्म की ही करते हैं
ऐसे पारस्परिक प्रहार।"[2]

इन पंक्तियों में धर्म के व्यापक स्वरूप को समझने का संदेश मिलता है। गांधीजी लूटमार और चोरी डकैती को हिंसात्मक और अधार्मिक कार्य मानते थे। सियारामशरणजी भी चोरी या लूटमार करके औरों के दिल को कष्ट पहुँचाना नीति-विरुद्ध मानते हैं। वास्तव में हमें सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते हुए उनको प्रेमपूर्वक गले लगाना चाहिए। किंतु हम अपने धर्म को ही सर्वोपरि मानकर दूसरे धर्म का तिरस्कार करें तो यह न्याय संगत कार्य नहीं है। निम्न पंक्तियों में धार्मिक संकीर्णता की निंदा करते हुए प्रेम को अपनाने का आग्रह ही प्रकट हुआ है :

एक दूसरे को आदर से
गले लगा सकते जो हाथ;

---

१. 'धर्मनीति' मंगलप्रभात : महात्मा गांधी : पृ. १५९
२. आत्मोत्सर्ग : पृ. १९

धिक् है, पत्थर लिये खड़े हो
उनमें घोर घृणा के साथ!
जिससे सब विद्वेष दूर कर
प्रेम-सुधा बरसा सकते,
धिक्-धिक्, अरे उसी मुख से ये
कैसी बातें हो बकते ?"[१]

गांधीजी के समान सियारामशरणजी का भी ईश्वर की एकता में पूर्ण विश्वास है। उनकी दृष्टिमें जो हिन्दूओं का राम है, वहीं मुसलमानों का रहीम है। सर्वधर्म समभाव की भावना के कारण ही उनके मनमें किसी धर्म के व्यक्ति के प्रति कटुता उत्पन्न नहीं होती। अधर्मियों के प्रति कही हुई ये पंक्तियाँ सर्वधर्म समभाव को व्यंजित करती हैं :

"नहीं दूसरा है वह कोई,
उसे रहीम कहो या राम;
भिन्न उसे कर सकते हो क्या,
देकर भिन्न भिन्न कुछ नाम ?"[२]

ईश्वर की अभिन्न सत्ता को अलग अलग नाम देकर पृथक् नहीं किया जा सकता। जो मंदिर में है, वही मसजिद में भी है, उसी एक ईश्वर की ज्योति सर्वत्र फैली हुई है, यदि हम उस अभिन्न तत्व को पहचान नहीं पाते तो यह हमारी दृष्टि का ही दोष है :

"मंदिर में जो, मसजिद में भी
ज्योति उसीकी फैली है;
यदि तुम देख नहीं सकते, तो
दृष्टि तुम्हारी मैली है।"[3]

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. २०
२. वही : पृ. २०
३. वही : पृ. २०

कवि का मानना है कि इस प्रकार का घातक क्रोध लेकर धर्म की रक्षा करना सर्वथा असंभव है। धर्म की रक्षा तो अन्य धर्मों के प्रति अहिंसात्मक एवं उदारतापूर्ण भावनाओं व्दारा ही संभव है। कवि का विश्वास है कि कोई भी धर्म वैर एवं विरोध की भावना को नैतिक नहीं मानता :

धर्म बचाया जा सकता क्या
लेकर हत्यारा यह क्रोध;
अच्छा बतलाया, बोलो तो,
किस मजहब ने वैर-विरोध ?"[१]

वास्तव में आजकल हमारा धर्म आडम्बरपूर्ण हो गया है। व्यर्थ का ढकोसला मात्र रह गया है। लोग अपनी स्वार्थ सिध्दि के लिये धार्मिक होने का ढोंग रचते हैं। किंतु कवि का विश्वास है कि धार्मिक आडम्बर से धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। आज ऐसे लोग मिलना बहुत दुर्लभ है, जिन्होंने सच्चे मन से धर्म का निर्वाह किया हो। अधिकांश लोग वैयक्तिक स्वार्थ के लिये धर्म की हत्या करते देखे जाते हैं। कवि ने लोभवश धर्म की हत्या करनेवाले पाखण्डी लोगों के आडम्बर पर प्रहार किया है :

"बतलाओ कितने हैं ऐसे
जो कह सकते हों यह बात,
किसी लोभ-वश हम स्वधर्म का
करते नहीं कभी अपघात।
दुर्लभ है मिलना ऐसों का,
ढोंग हुआ जाता है धर्म;
बच सकता क्या दीन किसी का
करके क्रूरों का कटु कर्म ?"[२]

कवि का मानना है कि सभी श्रेष्ठ धर्म हमें अच्छी बात ही सिखाते हैं। सभी

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. २०
२. वही : पृ. २१

धर्मों में बुरे कार्यों का पूर्ण निषेध है। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही धर्मों में पापपूर्ण हिंसक कार्यों को सदैव पाप ही माना गया है। हम सब उसी एक ईश्वर को संताने हैं अत: हमें पारस्परिक विद्वेष को त्याग कर परस्पर प्रेम पूर्वक रहना चाहिए :

"सभी श्रेष्ठ धर्मों के ऊपर
है अच्छी बातों की छाप
हिन्दू मुसलमान दोनों को
पाप हमेशा से है पाप।"[1]

सियारामशरणजी धर्म के नाम पर किये जानेवाले जातीय दंगों के प्रबल विरोधी हैं। उनका मानना है कि इस प्रकार के दंगों के पीछे वास्तव में किसी शक्तिशाली सत्ता का हाथ रहता है, जो स्वयं परदे की ओट में रहकर जनता से अपनी मनमानी करवाता है। इस प्रकार के साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण जहाँ देश का वातावरण विषाक्त बनता है, वहीं धर्म का भी ह्रास होता है। धर्म की रक्षा नीतिपूर्ण अहिंसक मार्ग से ही संभव है। अत: हमें धर्म के नाम पर परस्पर न लड़ते हुए सच्चे मन से धर्म का निर्वाह करना चाहिए तथा दूसरे धर्म का आदर करना चाहिए। किंतु हम व्यर्थ ही निंदित नीच जघन्य कार्य करके अपना घट पाप से भर रहे हैं :

निंदित, नीच, जघन्य कार्य कर
भरते हो तुम अपना घट।
किस हिन्दू ने हाथ उठाया
असहायों के ऊपर कब ?"[2]

कवि को यह सहय नहीं कि हम प्रतिघातात्मक भावनाओं से प्रेरित हो स्वयं अपने ही हाथों अपनी महामरण की सेज सजायें। वे ऐसे उत्पात से तो पतन को अधिक अच्छा समझते हैं। वे गांधीजी के समान हिन्दूधर्म को सर्वोपरि

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. २१
२. वही : पृ. ३७

मानते हैं। अतः हिन्दूधर्म के कलंकित हो जाने पर उन्हें क्षोभ होता है :

"सब कुछ तो खो चुके अरे, अब
यह महत्त्व भी खो दोगे;
हाथ उठा इन बेचारों पर कहो कौन-सा यश लोगे ?"[1]

कवि बदले की भावना को निंदनीय मानता है। उसकी दृष्टि में कटु कर्मों का अनुकरण कर उसीकी पुनरावृत्ति करना अनुचित है। प्रतिपक्षी को दण्डित करने के स्थान पर उचित यही है कि उसे पश्चाताप की अग्नि में जलने के लिये छोड़ दिया जाय ताकि वे उस अग्नि में तपकर कुंदन बन जावें :

"इन्हें छोड दो, ये स्वजनों के
दुष्कृत्यों की ओर निहार-
अपने भीतर की ज्वाला में,
दग्ध स्वयं हों बारंबार।"[2]

गुप्तजी का मानना है कि किसी भी जाति के सब लोग कदापि बुरे नहीं हो सकते। आज भी सहस्त्रों मुसलमान ऐसे भी हैं, जो राष्ट्र के हित के व रक्षा के निमित्त प्रयत्नशील हैं तथा हिन्दुओं के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर स्वतंत्रता के लिये लड़ रहे हैं। हिन्दुओं के साथ जेल में कैदी जीवन व्यतीत करनेवाले सत्याग्रहियों में अनेक रत्न इसी जाति के हैं :

"नहीं कदापि बुरे हो सकते
किसी जाति के जन सारे।
आज सहस्त्रों मुसलमान हैं
राष्ट्र-हेतु कर रहे प्रयत्न।"[3]

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ३८
२. वही : पृ. ४१
३. वही : पृ. ४३

यदि हमारा पड़ौसी संकीर्ण और अनुदार है तो इसमें थोड़ा बहुत दोष तो हमारा भी रहता ही है। अत: हमारे लिये नैतिकता त्याग कर उग्र रोष प्रकट करना उचित नहीं है। गुण्डे तो गुण्डेपन से बाज नहीं आते किंतु विवेकशील होकर उनका अनुसरण करना श्रेष्ठजन का लक्षण नहीं है :

"सिवा गुण्डपन के वे गुण्डे
कर ही सकते थे क्या और ?
तुम से हुआ किंतु यह कैसे
बन कर श्रेष्ठों के सिर मौर ?"[1]

गांधीजी के समान गुप्तजी भी धर्म परिवर्तन के विरोधी हैं। उनके अनुसार यदि हमें किसी धर्म की कोई बात अच्छी लगे तो हमें धर्म परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, हम उस धर्म की अच्छाइ को उदारतापूर्वक अपने धर्म में अपना सकते हैं। विधार्थीजी ईसा का आदर तो करते हैं, किंतु उनके लिये ईसाई बनना आवश्यक नहीं मानते। वे बुध्द और बापू में ही ईसा की प्रभुता पा लेते हैं :

"ईसा को प्रणाम, पर होना
होगा हमें न ईसाई;
बुध्द और बापू में हमने
यहाँ वही प्रभुता पाई।"[2]

गुप्तजी के मनमें दोनों जातियों के प्रति प्रेम और आदरभाव है। उनकी कामना है कि दोनों धर्मावलम्बी भारत भूमि में स्नेह, शांति और प्रेम से रहें। साम्प्रदायिक एकता से ही देश और धर्म का उध्दार संभव है। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक डाल के दो फूल के समान है, इसीलिये यदि दोनों स्नेह से रहेंगे तो दोनों धर्म फूलेंगे, फलेंगे :

"हिन्दू-मुसलमान दोनों ही
एक डाल के हैं दो फूल;

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ४४
२. वही : पृ. ४५
[illegible] : [illegible]

और एक ही है दोनों का
बड़ा बनानेवाला मूल।"[1]

जब दोनों का पालने पोसने वाला मूल एक ही है तब एक का बुरा होने पर दूसरे का भला कैसे हो सकता है ?

धर्म की रक्षा के लिये श्रध्दा एवं आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है। निम्न पंक्तियों में कवि ने इसी ओर संकेत किया है :

"धर्म-श्री है रूध्द सदा से
विपत्-सिंधु के ही उस पार;
उसे लाँघ कर्मिष्ठ कृती ही
करते हैं उसका उध्दार।"[2]

कवि की दृष्टि में ईश्वर के नाम पर शरारत या दुष्टता करना उचित नहीं है। निम्न पंक्तियों में कवि ने धर्म के ठेकेदारों पर प्रहार किया है :

"काफिर ? - वह करीम उनको भी
देता है दाना-पानी;
पर 'अल्ला हो अकबर' कहकर
ठीक नहीं है शैतानी।"[3]

सभी धर्म प्रेम एवं भाईचारे का संदेश ही देते हैं। हम हाथ में नंगी तलवार लेकर धर्म की रक्षा नहीं कर सकते। छोटी छोटी बातों में लड़ झगड़कर हम आजादी हासिल नहीं कर सकते। आज हमने हिन्दू मंदिरों और मुसलमानों की मस्जिदों को तोड़ फोड़कर राम रहीम दोनों को भिन्न साबित करना चाहा है किंतु कवि का विश्वास है कि राम रहीम दोनों अलग न होकर एक ही है तथा मंदिर, मस्जिद एवं गिरिजाघर में उसीकी सत्ता व्याप्त है :

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ४९
२. वही : पृ. ५४
३. वही : पृ. ५९

"नहीं मसजिदें हो उसकी हैं,
गिरजे भी हैं, मंदिर भी।
बन्दे बहुत-बहुत हैं उसके
मगर एक वह है फिर भी।"[1]

राम और रहीम के पवित्र नाम पर शैतानों का सा दुष्टतापूर्ण कार्य करके नमक हराम लोग उस मालिक के नाम पर कभी आत्म बलिदान नहीं कर सकते। ऐसे आडम्बर पूर्ण हिन्दू मुसलमान से तो कवि म्लेच्छ-काफिर लोगों को अधिक श्रेष्ठ मानता है जो अपने हृदय में स्थित ईश्वर को पहचानकर मंदिर मस्जिद के फेर में न पड़कर उसीकी आराधना करता है :

"ऐसे हिन्दू मुसलमान से
मैं 'म्लेच्छ-काफिर' ही खूब;
मंदिर-मस्जिद से पहले है
मुझ में ही मेरा महबूब।"[2]

धर्म का गला स्वयं अपने हाथों घोटकर धर्म के नाम पर झूठा आडम्बर करना अनुचित है :

"क्या गुनाह कर रहे सुनो तुम,
नहीं तुम्हें यह है मालूम;
मजहब का ही गला घोंट कर
मचा रहे मजहब की धूम।"[3]

धर्म का मार्ग तो अमर प्रेममय है। हम क्रूर मार्ग पर चलकर उसके निकट नहीं पहुँच सकते। अत: धर्म की रक्षा के लिये प्रेम एवं उदारता अपनाना जरूरी है :

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ६०
२. वही : पृ. ६१
३. वही : पृ. ६४

"चलकर क्रूर मार्ग पर उसके
निकट नहीं जाओगे तुम;
पथ है उसका अमर प्रेममय,
उसे वहीं पाओगे तुम।"[1]

इस प्रकार 'आत्मोत्सर्ग' में कवि ने विद्यार्थीजी के माध्यम से हिन्दू और मुसलमान दोनों की धर्मांधता की कड़ी आलोचना करते हुए दोनों में सद्भावना लाने के गांधीजी के प्रयत्नों में सहयोग दिया है।

'नकुल' में भी ईश्वर की एकता की ओर संकेत करते हुए यह दर्शाया गया है कि ईश्वर एक है और वह सभी के लिये समान है। अतः सबको उसे समान रूप से पूजने का अधिकार है :

"न कुल, न गोत्र, न जाति, सभी का होकर निज जन,
देगा सब को भव्य भविष्यत् का आश्वासन।"[2]

'नोआखली में' भी हिन्दू मुसलमान की साम्प्रदायिक कट्टरता, पारस्परिक विद्वेष तथा दंगों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। कवि ने साम्प्रदायिक कट्टरता के प्रति रोष प्रकट कर समस्त भारत वासियों को जातिधर्म की संकीर्ण कारा से मुक्त होने की प्रेरणा दी है तथा धर्मांधता के खोखलेपन पर भी व्यंग्य किया है। मानवता की दृष्टि से इन साम्प्रदायिक दंगों को निंदनीय बताते हुए कवि ने धर्म की सच्ची व्याख्या कर आज के दिग्भ्रांत मानव को धर्म और कर्तव्य के सच्चे स्वरूप को ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

सियारामशरणजी किसी जाति या धर्म को बुरा नहीं मानते। 'पाककलाम' कविता में कवि ने यही दर्शाना चाहा है कि कोई भी जाति या धर्म बुरा नहीं होता, व्यक्ति ही जाति या धर्म को बदनाम करता है। सभी

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ६८
२. नकुल : पृ. १७

धर्मों में अतिथि सम्मान तथा श्रेष्ठजनों के आदर की भावना का प्रतिपादन किया गया है। निरापराध व्यक्तिपर प्रहार करना ईस्लाम के विरूध्द है। इस्लाम भी सभी धर्मों के समान अतिथि सत्कार को अपना ईमान समझता है। वह गांधीजी तो क्या बल्कि दुश्मनों के रक्षण के लिये भी जूझ मरता है। वास्तव में इस्लाम धर्म तो पाक है, किंतु उस धर्म के कुछ लोगों ने उसे बदनाम कर दिया है। अंत में कवि ने पाक कलाम की चर्चा करके अपने उद्देश्य को प्रकट किया है :

"फौजें बड़ी या दीन बड़ा है ?
फौजें करती हैं बदनाम;
तुम्हें भेजना हो ही कुछ तो,
भेजो अपना पाक-कलाम।"[1]

'नोआखली में' शीर्षक कविता में कवि ने सांप्रदायिक अग्नि के शिकार बने हुए जनजीवन का चित्रण कर धर्मांध लोगों की भर्त्सना की है। संपूर्ण नोआखली मनुष्य के निर्मम हाथों से विनष्ट हो चुका है। सभी घर जला दिये गये हैं तथा ये जलते हुए घर चिताओं के समान दीख पड़ रहे हैं। जो लोग जीवित दीख पड़ रहे हैं उनकी मरण वेदना असहय है। सर्वत्र मौन छाया हुआ है। उन उपद्रवियों ने धर्म के नाम पर सब कुछ नष्ट कर डाला है। कवि चूंकि धार्मिक भावना से अनुप्राणित है अत: धर्म के नाम पर अत्याचार करनेवाले पाखण्डी लोगोंको वह भर्त्सना करता है। वास्तव में लोग धर्म के सच्चे, स्वरूप को न समझकर अधार्मिकता को ही प्रदर्शित करते हैं :

"धर्म समझना है मनुजों का
तो अपने कवि से सुन जा,
'धर्म-धर्म' रटते हैं जो वे
धर्म बहाना है उनका।"[2]

अब तक धर्म की रट लगानेवाले मनुष्य में आंतरिक दुष्प्रवृत्तियों का

---

१. नोआखली में :'पाक-कलाम' कविता से : पृ. २६
२. वही : पृ. ४६

आदमखोर शांत नहीं हुआ। ऐसे पाखण्डी लोगों के लिये धर्म उनके नग्न भीषण क्रूर कार्यों का बाना मात्र है। मनुष्य आज तक धर्म का बाना पहनकर भी अपने स्तर को ऊपर नहीं उठा सका। वह सदियों से पददलित एवं पतित है, इससे तो पशु अच्छा जिसने अपने को ऊपर उठाया है :

"बुझा नहीं भीतर का अब तक
कुप्रवृत्ति का आदम खोर,
धर्म हुआ ऊपर का बाना
उसके नग्न निदारुण का।"[1]

'जयहिन्द' में भी भारत की धर्म निरपेक्ष नीति की अभिव्यक्ति कवि ने की है। इसमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश की गई है कि विशाल भारत की छत्रछाया में पनपनेवाले समस्त जाति और धर्म के लोगों को समान संरक्षण मिलेगा। निम्न पंक्तियों में कवि ने यही भाव प्रकट किया है :

"आश्वसित सब हों!
भय है किसी को नहीं भारत की जय से,
भीत न हो कोई नवोदय से;
भारत स्वतंत्र है, स्वतंत्र सभी जब हों।"[2]

भारत के लिये हिन्दू, बौध्द, क्रिश्चियन, पारसी, मुसलमान सभी एक समान हैं। 'अमृतपुत्र' में भी कवि ने यह प्रतिपादित करना चाहा है कि सभी धर्मों का मूल तत्वत: एक ही है। वैष्णव होते हुए भी गुप्तजी ने ईसा के चरित्र को पद्यबध्द किया है जो उनकी धार्मिक उदारता और साहस का ही परिचायक है। कवि ईश्वर को किसी भी रूप में कहीं भी श्रध्दापूर्वक प्रणाम करने को अभिलाषी हैं। वह ऐश्वर्य रूपी गुनाह को त्यागकर ईसा की पीड़ा को स्वरित करना चाहता है। ईश्वर की दृष्टि में राव, राजा, रंक सभी

---

१. नोआरवली में : पृ. ४६
२. जयहिन्द : पृ. १५-१६

समान हैं। किंतु उन्हें दीन अधिक प्रिय है। जिस तरह माता को अपनी दु:खी संतान का विशेष ध्यान रहता है, उसी प्रकार ईश्वर दीन लोगों के हृदय में भी निवास करते हैं। अत: हमें जाति पाँति तथा ऊँच नीच के, अमीर गरीब के भेद में न पड़कर सभी मनुष्यों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जिसने संसार के सभी दु:खी दरिद्र लोगों के लियेविश्व का ऐश्वर्य दान कर दिया। वह धन्य है।

आज हमारे धर्म के ठेकेदार शक्तिबल और अधिकार की उपासना में संलग्न है। हमारे शास्त्री पुजारी उत्सवपर्व में उलझे हुए हैं। वे यही सोचतें हैं मानों धर्म उन्हीं पर टिका हुआ है, शेष जितने भी लोग हैं वे सभी हीन या म्लेच्छ हैं। उन्हें सदा यह भय बना रहता है कि कहीं कोई नीच दुष्ट व्यक्ति प्रकट होकर उनके धर्म के उच्च प्रासाद को लूटकर ध्वस्त न कर दें :

"दूसरे, शास्त्री पुजारी वर्ग वे
कर रहे अविराम उत्सव पर्व हैं;
मानते हैं, धर्म उन पर ही टिका;
शेष जितने, हीन अथवा म्लेच्छ हैं।"[१]

गांधीजी की दृष्टि में धर्म के नाम पर झूठा आडम्बर करनेवाले ये पण्डित नीच ही हैं। कवि की दृष्टि में ऐसे धार्मिक व्यक्ति धन्य है। जो दीन दुखियों के सामने नम्रनत हैं, जिनके हृदय में धर्म की भूख प्यास है। जो दयालु और शुध्द हैं, जो शांति की स्थापना कर रहे हैं। जो धर्म के लिये सब कुछ सहन कर रहे हैं ऐसे धार्मिक व्यक्ति के लिये ही स्वर्ग का राज्य है। ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के पुत्र बनने योग्य हैं:

"धन्य वे जो दीन-दु:खी नम्रनत,
भूख प्यास, जिन्हें हृदय में धर्म की;
धन्य वे जो सदय हैं संशुध्द हैं

---

१. अमृतपुत्र : पृ. ४४

शांति की संस्थापना जो कर रहे,
कर रहे धर्मार्थ जो सब कुछ सहन;.....
....पायेंगे विश्रांति निश्चय वे पुरुष,
पुत्र बनने योग्य हैं प्रभु के वही ।"[१]

यहाँ कवि ने धार्मिक उच्चता के लिये कष्ट सहन के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसमें कवि ने धर्म की अनैतिकता पर भी अपना क्षोभ प्रकट किया है तथा सत्ता के लोभी अधिकारियों एवं धर्म के ठेकेदार पण्डितों के अनैतिक व्यवहार पर कटु व्यंग्य किया है। इनके लिये पैसा ही भगवान है तथा वे अधिकार बल की चाकरी कर रहे हैं। वे इतने लालची हो गए हैं कि कुछ घृणित रौप्य खण्डों के लिये अपने गुरू, माँ बाप तक को बेच सकते हैं। ऐसे पाखण्डी एवं छलछद्म करनेवाले सत्ता के लालची ईसु जैसे निष्कलुष, निर्वैर, निश्छल व्यक्ति को कैसे बर्दाश्त करते ? अत: उन्होंने ईसु की धार्मिक उदारता एवं अहिंसा से क्रुध्द हो उन्हें मृत्युदण्ड की सजा दी। किंतु कवि की दृष्टि में किसी पुण्यात्मा को इस तरह शारीरिक कष्ट पहुँचाना अधर्म है। अत: उन्होंने हिंसक प्रवृत्ति से प्रेरित धर्म के ठेकेदारों पर प्रहार करते हुए कहा :

"अरे ओ हिंस्त्र रे !
धर्म तेरा और तेरा न्याय वह
क्या यही है, देखता हूँ मैं जिसे ?
निशि तिमिर में आप अपने को लुका
कृत्य जो करते लुटेरे लोग हैं
कर रहा है इस उजाले में निलज !"[२]

कवि मानवता की सेवा को ही धर्म का सच्चा रूप मानता है। 'हमारी प्रार्थना' में भी सियारामशरणजी ने विनोबाजी के सर्वधर्म समभाव को

---

१. अमृतपुत्र : पृ. ४६-४७
२. वही : पृ. ६३

उच्च एवं व्यापक धर्म भावना को ही व्यक्त किया है। ईश्वर की एकता की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं :

"ॐ तत्सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू।
सिध्द-बुध्द तू, स्कन्द विनायक सविता पावक तू॥
ब्रह्म् मज्द तू, यहव शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू।
रुद्र विष्णु तू, रामकृष्ण तू, रहीम ताओ तू।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सियारामशरणजी के काव्य में धर्म संबंधी व्यापक दृष्टिकोण प्रकट हुआ है।

नीति की व्यंजना :

गांधीदर्शन का सर्वप्रमुख एवं प्रधान लक्ष्य है आत्मानुभूति। आत्मानुभूति के निमित्त वे अनुशासन का होना अनिवार्य मानते हैं। सियारामशरणजी भी नैतिकता के प्रति पूर्णत: आग्रही हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में सर्वत्र नीति की व्यंजना की है।

'मौर्य विजय' में कवि ने अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान जीवन की अध:पतित अवस्था का चित्रण कर तत्कालीन नीतिपूर्ण जीवन की ओर ही संकेत किया है :

"सब कोई उस समय नियमपूर्वक रहते थे,
कभी न कोई झूठ बात मुँह से कहते थे।
शासन का तब कार्य सदा होता था ऐसे -
स्वयं कर्म ही राजकाज करता हो जैसे।"[२]

किंतु सम्राट चंद्रगुप्त आत्मिक शक्ति से संपन्न सेनानी है। अत: सेल्यूकस के व्दारा आक्रमण किये जाने पर वह भयभीत नहीं होता। उसका विश्वास है कि धर्म के इस युध्द में अवश्य जीत उसीकी होगी। अंत में कवि ने

---

१. हमारी प्रार्थना : पृ. ८
२. मौर्य विजय : पृ. २४

आत्मिक बल के सामने शारीरिक शक्ति से संपन्न सेल्यूकस की पराजय बताते हुए यही प्रतिपादित करना चाहा है कि धर्म की ही सदैव विजय होती है। चूंकि सेल्यूकस का उद्देश्य शुभ नहीं था, अत: नैतिक शक्तियों से संपन्न भारतीय सेनानियों के समक्ष उन्हें पराजित होना पड़ा।

'दूर्वादल' की कुछ कविताओं में भी कवि का नैतिकता के प्रति आग्रह प्रकट हुआ है। 'अनौचित्य' कविता में कवि बादल को संबोधित कर कहता है कि यह खेती न जाने कितनों को अन्न देनेवाली है, यह कृषि तुम्हारी प्रेम पात्री रही है, हे जलधर तुम्हीं ने तो इसे जल देकर बढ़ाया है, विकसित किया है, अब इस तरह ओले बरसाकर तुम्हीं इसे नष्ट कर रहे हो यह अनुचित है। यहाँ कवि ने यही व्यंजित किया है कि स्रष्टा के व्दारा स्वयं सृजित वस्तुको नष्ट करना उचित नहीं है। 'कृतघ्न' कविता में भी कवि ने नीति की व्यंजना की है। कवि की दृष्टि में उपकार का बदला अपकार से देना कृतघ्नता है और कृतघ्नता उनकी दृष्टि में अनुचित एवं नीति विरूध्द कार्य है। अत: कवि पवन को संबोधित कर कहता है :

"इन विटपवरों ने हे मरुत्! मोदकारी,
सुरभि सतत देके की सु-सेवा तुम्हारी।
व्यथित अब इन्हीं को वह्नि से आज देख,
ज्वलित कर रहे हो और भी क्यों विशेष।"[1]

'आर्द्रा' में भी कवि का नैतिक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। 'डाक्टर' कविता में धन के लोभी और अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन डाक्टरों के प्रति तीखा व्यंग्य करते हुए नैतिक भावना का आग्रह प्रकट किया है। इसमें नदी में बहती हुई एक स्त्री एक किसान व्दारा बचाली जाती है। किसान डाक्टर से उस स्त्री की चिकित्सा करने का अनुरोध करता है किंतु डाक्टर उस निर्धन व्यक्ति की अवस्था देख यह सोचता है कि वह भला उसे कितने पैसे दे सकेगा?

---

१. दूर्वादल : 'कृतघ्न' : पृ. ४५

धन का लोभी वह डाक्टर उस किसान के व्दारा सहायतार्थ याचना किये जाने पर भी नहीं जाता। चिकित्सा के अभाव में वह स्त्री मर जाती है। बाद में जब डाक्टर को मालूम होता है कि मृतक स्त्री स्वयं उसीकी पत्नी थी तब उसका विषाद फूट पड़ता है। इस कविता में कवि ने किसान को अपरिग्रही और परदु:ख कातर व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है और यह कहना चाहा है कि हमें धन के प्रति अत्यधिक परिग्रह न रखते हुए अपरिग्रह वृत्ति से काम लेना चाहिए। हमें अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण जागरूक रहना चाहिए तथा नि:स्वार्थ भाव से मानवता की सेवा करनी चाहिए। 'आत्मोत्सर्ग' में भी कवि का नैतिक दृष्टिकोण ही प्रकट हुआ है। सियारामशरणजी हृदय परिवर्तन एवं आत्म परिष्कृति के सिध्दांत में पूर्ण विश्वास करते हैं। उनका आग्रह है कि हमें स्वजनों के दुष्कृत्यों को निहार कर उसे क्षमा कर देना चाहिए ताकि वे अपनी अंतरात्मा की ज्वाला में बारंबार दग्ध हो परिष्कृत बन सके। बलहीन असहाय लोगों पर जोर आजमाना अनैतिकता पूर्ण कार्य है। वे प्रतिघातात्मक भावना को अनैतिक मानते हैं। प्रतिघात की यह भावना मनुष्य को पतित एवं पशु बना डालती है। अत: वे इस भावना से प्रेरित हिन्दुओं पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं :

"जैसे को तैसा होना,
इसके लिये गर्व करते हो ?
यह तो है गौरव खोना।"[१]

मानवता की रक्षा के स्थान पर उसका सर्वनाश करना धर्म विरूध्द कार्य है। जातीयता के नाम पर निरीह लोगों पर हाथ उठाना भी अनैतिक कार्य है, अत: उन्होंने जातीय भावना से प्रेरित हिन्दुओं की हिंसक भावना पर कुठारा घात किया है तथा अनेक स्थानोंपर नीति की व्यंजना की है।

कवि की दृष्टि में वे गुण्डे एवं हत्यारे निंदनीय हैं जिन्होंने पवित्र देवालयों को तोड़ा है, गुण्डों का काम ही गुण्डापन करना है, किंतु हिन्दुओंने

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ३९

अच्छे होकर भी मान्य मस्जिदों के गुम्बज तोड़ कर औरों के हलकेपन का अनुकरण कर अपने ही स्वधर्म का पतन किया है। कवि की दृष्टि में किसी बुरे कार्य में प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो दूसरों का अनुसरण करना धर्म के विपरीत कर्म है। इस प्रकार के आचरण से स्वधर्म का पतन होता है। अतः कवि ने इस अनैतिक कार्य की निंदा की है। तथा यह उपदेश दिया है कि हमें गुण्डों की बुरी बातों का अनुकरण न करते हुए श्रेष्ठजनों के समान कार्य करना चाहिए। यदि हमें श्रेष्ठता प्राप्त करनी हो तो हमें हिंसक प्रवृत्ति को त्याग कर प्रेम का मार्ग अपनाना चाहिए। गुप्तजी का विचार है कि यदि कोई स्वेच्छाचार करे तो हमारे लिये अत्याचार करना उचित नहीं है। शुभ कार्य चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो, हमें पीछे नहीं हटना चाहिए। हमें दृढ़तापूर्वक निरंतर अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर होना चाहिए। यहाँ कवि ने नीति की व्यंजना करते हुए कर्मण्यशील बने रहने का आग्रह ही प्रकट किया है।

'मृण्मयी' में भी कवि का नैतिकता के प्रति आग्रह ही प्रकट हुआ है। 'मंजुघोष' कविता में कवि ने सांसारिक प्राणियों की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हुए यह उपदेश दिया है कि किसी वस्तु का महत्त्व न तो उसके अभाव में है न उसकी प्राप्ति में। उसे प्राप्त कर लेने के बाद उसका महत्त्व या उसे प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा कम हो जाती है। इस प्रकार इस कविता में नीति की ही 'व्यंजना हुई है :

"पाती रहे सुख ही सदैव यदि वसुधा,
उसकी प्रसन्न क्षुधा
मंद पड़ जायगी -
व्याधि रूप हो के उसे शांति ही सताएगी।"[१]

'लाभालाभ' कविता में साधारण सी कथा के माध्यम से मरणशील जगत और उसमें व्याप्त असंतोष का चित्रण किया गया है। नगर श्रेष्ठी लोभ का

----

१. मृण्मयी -'मंजुघोष' कविता : पृ. ३५

प्रतीक है। उसमें बारंबार वणिक वृत्ति के कारण पश्चाताप का भाव भी पैदा होता है तथा आकाश से आती हुई ध्वनि मनुष्य को सावधान भी करती है। इसमें नैतिकता के प्रति आग्रह ही प्रकट हुआ है। प्रस्तुत कविता में कवि ने नगरश्रेष्ठी को अत्यधिक परिग्रही व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। वह धन के प्रति अपनी अत्यधिक लालची प्रवृत्ति के कारण मानवीय उच्चता से अधःपतित होकर अनैतिक कार्य करता है। उसकी परिग्रही वृत्ति उसे इतना आत्मसीमित बना देती है कि वह अपनी वैयक्तिक स्वार्थ सिध्दि के लिये छलकपट एवं धोखे का मार्ग अपनाता है। आरंभ में वह धन का अपव्यय कर असंख्य निर्धन लोगों से उनके घरबार छीनकर एक उच्च प्रासाद बनवाता है। लोगों के व्दारा मकान की प्रशंसा किये जाने पर मन ही मन खुश होता है। किंतु मकान के गिरने की आकाशवाणी सुनकर उसका मन भयभीत एवं चिंताग्रस्त हो जाता है। उसे मकान के गिर जाने की स्थिति में अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। किंतु पत्नी व्दारा राजा की याद दिलाये जाने पर वह आश्वस्त हो जाता है और राजा के पास जाकर वह मकान छलपूर्वक दुगुने दाम में बेच देता है। उसकी पत्नी उसके इस अनैतिक एवं पापपूर्ण कार्य का विरोध करती है। किंतु वह श्रेष्ठी राजा से छलपूर्वक धन प्राप्त कर संतुष्ट हो जाता है। राजा अत्यंत उदार एवं त्याग भावना का प्रतीक है। सेवक के व्दारा श्रेष्ठी की काली करतूतों की ओर संकेत किये जाने पर भी वह श्रेष्ठी के प्रति क्रोधित नहीं होता। उसके मन में धन के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं है। अतः मकान के धराशायी होने की आकाशवाणी सुनकर भी उसे क्षोभ नहीं होता। वह अपनी आँखो से मकान को धराशायी होते देखता है। चूंकि उसका ह्दय अत्यंत विशाल, उदार एवं त्यागमय है, अतः उसे उस मिट्टी के ढेर में ही स्वर्ण प्राप्त हो जाता है। जब मिट्टी के ढेर का स्वर्ण में परिवर्तित होने का समाचार श्रेष्ठी दम्पत्ति के कानों तक पहुँचता है तो उसका परिग्रही मन फिर से असंतुष्ट हो जाता है। उसे उस स्वर्णराशि के सम्मुख राजा व्दारा छलपूर्वक हासिल किया हुआ धन नगण्य सा प्रतीत होता है। अंत में उसे अपने अनैतिक कार्य के प्रति पछतावा होता है और वह हाथ मलकर रह जाता है। इस कविता में कवि ने

प्रकारांतर से यही कहना चाहा है कि संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है। मानव जीवन भी क्षणभंगुर है। अत: इस मरणशील संसार में मनुष्य को किसी भी वस्तु के प्रति अधिक आग्रह न रखते हुए भाग्य के अनुसार जो कुछ उसे प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिए। उदारता तथा त्यागभाव को अपनाकर नीतियुक्त जीवन ही जीना चाहिए। वैयक्तिक स्वार्थ या आत्मसीमितता नीति विरूध्द है। संसार की असारता को लक्ष्य कर त्याग एवं उदारता का मार्ग अपनाकर मानवीय उच्चता को प्राप्त करना ही नीति संगत कार्य है। इसमें कवि ने श्रेष्ठी के प्रतीक के माध्यम से लालच को अनैतिक बताकर उसके प्रति अत्यधिक मोह को त्यागने का ही उपदेश दिया है तथा श्रेष्ठी पत्नी के व्दारा धन वैभव की निरर्थकता को भी प्रकट किया है। "हाय यह धन, वैभव सब व्यर्थ ", इस पंक्तिमें धन की निरर्थकता का भाव ही प्रकट हुआ है।

'नाम की प्यास' में कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि मनुष्य यशलिप्सा से प्रेरित होकर जो कार्य करता है वह निरर्थक है। उनकी दृष्टिमें लोककल्याण के लिये किया जानेवाला कार्य नीति संगत है। यदि मनुष्य का लक्ष्य एवं साधन शुध्द हो तो उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अवश्य सफलता मिलेगी। धनिक के मनमें लोककल्याण की भावना नहीं थी, उसका साधन शुभ एवं नीतियुक्त नहीं था, अत: अथक परिश्रम करके भी उसे अपने कार्य में सफलता नहीं मिली। इसमें कवि ने निष्काम कर्म के प्रति ही आग्रह प्रकट किया है। 'वंचित' कविता में कवि ने उस व्यक्ति की कथा अंकित की है जो पारस पत्थर की तलाश में भटकते भटकते एक तालाब के निकट पहुँच जाता है। वहाँ एक सुंदर युवती उसी पारस पत्थर से पैरों को मलमलकर धो रही थी। वह व्यक्ति सोचता है कि जब युवती उस पत्थर को रख देगी तब वह उसे ले जायगा। किंतु वह युवती स्नानोपरांत उस पत्थर को तालाब में फेंक देती है। उस व्यक्ति को इससे अत्यधिक पश्चाताप होता है। वह स्त्री उसका उपहास उड़ाते हुए कहती है :

" दोष किसे देता है अरे अपात्र ?
मेरे लिये तो था वह लोष्ट मात्र ?

तू ही जानबूझकर छला गया
तेरे हाथ से ही यह रत्न है चला गया।"[१]

यहाँ कवि ने मानवीय लोभ वृत्ति का चित्र अंकित कर उससे उत्पन्न असंतोष एवं निराशा को दर्शाकर यही प्रकट करना चाहा है कि मनुष्य को किसी भी वस्तु के प्रति अधिक लोभ नहीं रखना चाहिए। कवि की दृष्टिमें अपने सुख के लिये दूसरों के सुख का मोल लेना अनुचित है। बादलों के अनायास उमड़ आने पर उन्हें क्षोभ होता है। दिनभर की भीषण गरमी के बाद पूर्णिमा की रात्रि को जब चंद्रमा की सोलह कलाएँ विकसित होने को हैं; अनायास मेघ-मालाओं को घिरा हुआ पाकर वह सोचता है कि क्या मनुष्य के भाग्य में दिन का ताप ही भोग्य रह गया है। चंद्रमा की शीतल चाँदनी का दान तो उसकी सुषुप्तावस्था में ही लुट जाता है। इसी संदर्भ में कवि ने नीति की व्यंजना करते हुए लिखा है कि वैयक्तिक स्वार्थपूर्ति के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाना उचित नहीं है।

'नकुल' में भी कवि ने नीति विरुध्द बुरा आचरण करनेवाले दुष्प्रवृत्ति से प्रेरित दुराचारी व्यक्ति की निंदा की है तथा उसे धिक्कार योग्य ठहराया है। निम्न पंक्तियों में अनैतिक कार्य की कटु आलोचना की गई है :

"धिक् ऐसे दुर्वृत्त अनाचारी को धिक् है,
उसको जो कुछ कहा जाय वह नहीं अधिक है।"[२]

'नोआखली में' साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में धर्म एवं नीति संबंधी दृष्टिकोण ही प्रकट किया गया है। 'ध्वंस' प्रतीकात्मक रचना है, इसमें कवि ने साम्प्रदायिक उपद्रवियों व्दारा जलाये गये ध्वस्त मकान का शब्दचित्र अंकित किया है। कवि की दृष्टि में मिट्टी से बने मकान को ध्वस्त करना उसी प्रकार निंदाजनक कार्य है, जिस प्रकार मानव के मिट्टी के तन को

---

१. आर्द्रा : 'वंचित' : पृ. १०१
२. नकुल : पृ. ४९

विनष्ट करना । उसके मनमें रह रहकर उस ध्वस्त मकान का चित्र अंकित हो जाता है जिसे उन साम्प्रदायिक उपद्रवियों ने घृणाभाव से जलाने का प्रयत्न किया था और वह भवन विस्फोट के कारण धराशायी हो क्षत-विक्षत शव के समान पड़ा था । वे उपद्रवी इस मसले पर विचार कर रहे थे कि वह ध्वस्त मकान किस जाति से संबंधित है । तभी वह गृहकंकाल जैसे बोलता हुआ सा प्रतीत होता है । वह कवि को संबोधित कर कहता है कि क्या वह भी उन उपद्रवियों के समान जाति भेद के चक्कर में पड़कर उससे जाति और धर्म के बारे में पूछ रहा है ? मिट्टी से निर्मित वह भवन किसी एक धर्म का नहीं है, वह तो सभी धर्मोंका अपना है, उसके मन में सभी लोगों के प्रति अपनत्व का भाव है । किंतु ये उपद्रवी लोग धर्म के चक्कर में पड़कर घृणाभाव से प्रेरित होकर उस भवन को जलाने की चेष्टा करते हैं । कवि उन गुण्डों के कुकृत्य की निंदा करता है, जो स्वयं मिलझुलकर नहीं रहते :

'दीन-दीन' की 'धर्म-धर्म' की,
चिल्लाहट कर करके,
आये थे जो मुझे जलाने
घृणा-भावना भरके
थे वे कौन, कहूँ क्या यह भी ? -
रहें कहीं मिल-जुलके,
गुण्डे गुण्डे ही हैं केवल,
नहीं धर्म के, कुल के ।"[1]

संक्षेप में, इस कविता में कवि ने हमें यही उपदेश दिया है कि हमें सभी धर्मों का आदर करना चाहिए, किसी भी धर्म के प्रति घृणाभाव नहीं रखना चाहिए । 'सुनंदा' में भी कवि का नैतिकता के प्रति आग्रह ही प्रकट हुआ है । यह संपूर्ण काव्य सांकेतिक है । नक्षत्र नगर उच्च और विलासमय जीवन का प्रतीक है । राजकुमार यथार्थ संसार में आने की चेष्टा करता है ।

---

१. नोआखली में - 'ध्वंस' कविता : पृ. ३१

सुनंदा का प्रेम उसे धरती पर खींच लाता है, परंतु सुनंदा राजकुमार को धरती पर पाकर भी संतुष्ट नहीं होती। वह तो उससे ऊँचे स्तर पर मिलने की आकांक्षा प्रकट करती है और अमल हृदय के साथ अपने जीवन का उन्नयन कर विश्रांतिभवन में जाकर रानी का मन जीतना चाहती है। अतः वह राजकुमार से कहती है :

"खर्व नहीं हम, खर्व नहीं तुम,
आओ प्रियतम आओ,
ऊँचा स्थान तुम्हारा वह जो
हमें वहीं तुम पाओ।"[1]

'उन्मुक्त' में भी कवि का नैतिकता के प्रति आग्रह प्रकट हुआ है। सियारामशरणजी मानवतावादी कवि हैं। मानवतावादी चेतना प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही उन्होंने 'उन्मुक्त' में युध्द का तीव्र विरोध किया है और नैतिकता को मनुष्य की शक्ति मानकर यही मत प्रकट किया है कि नैतिकता का पतन होने पर मनुष्य पशुत्व की श्रेणी तक पहुँच जाता है। हेमा के प्रति किये गये अशिष्ट व्यवहार के प्रसंग में कवि ने नैतिकता के अभाव में मानवता के पतन की भर्त्सना करते हुए कहा है :

"सुनो, हुआ हेमा का फिर क्या;
सधोष्णि उस मांस पिण्ड का, उष्ण रुधिरका
लोभी नर पशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर में। पढ़ो, पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़लो यह पत्र।"[2]

संक्षेप में, सियारामशरणजी की समस्त कृतियों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नैतिकता का आग्रह ही प्रकट हुआ है जो कि गांधीवादी धार्मिक दृष्टि के सर्वथा अनुरूप है।

---

१. सुनंदा : पृ. १०४
२. उन्मुक्त : पृ. ५०

वैष्णवता और भक्तिभावना का स्वरूप :

सियारामशरणजी ने अधिकांश कविताएँ ऐसी लिखी हैं जिनमें नैतिकता का उपदेश और धार्मिक सिध्दांतों का प्रतिपादन किया गया है। इन रचनाओं में भक्त की विनय और श्रध्दा भावना को ही प्राधान्य है। उनमें ईश्वर के प्रति सच्चा आत्मसमर्पण का भाव है। सियारामशरणजी गुप्त अपना हृदय बड़े विनय के साथ ईश्वर को समर्पित करते हैं :

"करो नाथ, स्वीकार आज इस हृदय कुसुम को;
करें और क्या भेंट राज राजेश्वर, तुमको ?....
.... इष्ट नहीं यह करो कि धारण इसे हृदय पर;
निज मंदिर में ठौर कहीं इसको दो प्रभुवर।"[1]

वास्तव में सियारामशरणजी आस्तिक कवि हैं। उनके व्यक्तित्व पर गांधीजी की वैष्णवता की स्पष्ट छाप पड़ी है। वैष्णव परिवार में पालित पोषित होने के कारण उनके जीवन पर भी स्वाभाविक ही वैष्णव संस्कारों की अमिट छाप विद्यमान है। उनके हृदय में परम् पिता परमेश्वर के प्रति अगाध श्रध्दा और विनय है। 'दूर्वा-दल' की प्रारंभिक कविता 'आत्म निवेदन' के रूप में लिखी गई है। इसमें कवि के अहम्शून्य व्यक्तित्व का ही परिचय मिलता है। गुप्तजी दूसरों की काव्य कुशलता से परिचित हैं, उनके मनमें अपनी काव्य प्रतिभा के प्रति तनिक भी अहंकार नहीं है। दूसरों के समक्ष अपने महत्त्व को कम बताकर कवि ने अपनी विनयशीलता का ही परिचय दिया है। सरस्वती की आराधना में अनेक काव्य पुरूष अर्पित हो चुके हैं अत: कवि को अपना यह दूर्वा-दल चढ़ाते हुए संकोच होता है। इस काव्य संग्रह की कुछ कविताओं का संबंध कवि की वैष्णव भावना से है। 'विनय,' 'शरणागत,' 'गूढाशय,' 'कब,' 'विश्वास,' 'मालो के प्रति,' 'प्रियतम,' 'पथ' आदि कविताओं में भक्ति भावना का प्रबल रूप ही प्रकट हुआ है। कवि की वैष्णव भावना में नैतिकता का पूर्ण आग्रह है तथा हृदय की निर्मलता और पवित्रता पर ही विश्वास प्रकट हुआ है। उनकी वैष्णव भावना में मोक्ष का

---

१. दूर्वा-दल : 'भेंट' कविता से : पृ. ११

आग्रह उतना नहीं है, जितना कि जनहित में लगाने का संकल्प है। उनका उद्देश्य यह है कि व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त हो। 'विश्वास' कविता में उन्होंने कहा भी है :

"निज विश्वास न छीनो हमसे
किंतु किसी भी ठौर।"[1]

कवि ईश्वर के समक्ष श्रद्धानत है किंतु दूसरों के सामने उसका स्वाभिमान जागृत हो जाता है। इस स्वाभिमान में दंभ नहीं है बल्कि गोस्वामी तुलसीदास के 'सियाराममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानि' की भाँति सारे समाज की वंदना कवि ने की है :

"प्रणत प्रणाम, सभी को शत शत प्रणत प्रणाम।"

वस्तुत: कवि ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी की सहायता पाने को इच्छुक नहीं है। 'विश्वास' कविता में भव सिंधु से पार उतर जाने का विश्वास प्रकट हुआ है :

"पाकर उसकी ही सहायता
सत्वर बिना प्रयास,
विपद-सिंधु हम तर जावेंगे
है हमको विश्वास।"[2]

'शरणागत' कविता से यह प्रतीत होता है कि इस संसार सागरमें चक्कर काट रहा है। सिंधु के तरंगाघात उसे थपेड़े खिलाते हैं। संसार के समस्त सहारों की रज्जु टूट चुकी है। कवि निस्सहाय होकर शरण्य की शरण चाहता है :

---

१. दूर्वादल : 'विश्वास' कविता से : पृ. १५
२. वही : पृ. १६

"क्षुद्र-सी हमारी नाव, चारों ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं।
शीघ्र निगल जाने को नौका के चारों ओर
सिंधु की तरंगे सौ-सौ जिव्हाएँ पसारे हैं।
हारे सभी भाँति हम, तब तो तुम्हारे बिना
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं।
और क्या कहें अहो! डुबा दो या लगा दो पार,
चाहे जो करो शरण्य! शरण तुम्हारे हैं!"[1]

एक भयानक कानन की कल्पना करते हुए सियारामशरणजी लिखते हैं कि हमारे संगी साथी दूर दूर चले गए हैं। पथ पर काँटे बिखरे हुए हैं। चरणों से रक्त की धारा बह रही है। प्रतीत हो रहा है कि काल रात्रि आ गई है। हिंस्त्र जंतुओं से वातावरण अत्यंत भयावह हो चला है। यहाँ अरण्य बीच किसको पुकारे? अब तो हे, नाथ! तुम चाहो जो करो हम तो तुम्हारी शरण आ गये हैं। इतना ही नहीं कवि अपने आराध्य से करुणा की जलधारा बरसाकर संताप मिटाने की बात करता है। इसी वारिधारा से उसका तृष्णानल बुझ गया। आतप में उसे संतोष इसलिये प्राप्त होता है कि उसे घनश्याम पावस में नवजीवन देगा :

"आतप की इस दु:सहता में
है संतोष यही हमको, --
पावस में है घनश्याम! तुम,
नवजीवन ले आओगे।"[2]

कवि को ईश्वर के अस्तित्व पर अटूट आस्था है। अत: प्रत्येक भाव को उसने उसी ओर मोड़ने का प्रयास किया है। फूल भी यदि अभागा है तो उसमें भी दयामय की ही मेहरबानी है। 'कब' शीर्षक कविता में भी श्रध्दा का

---

१. दूर्वा-दल : 'शरणागत' कविता से : पृ. १९
२. वही : 'संतोष' कविता से : पृ. ३७

स्वर ही मुखरित हुआ है। संक्षेप में, 'दूर्वा-दल' में संकलित कविताएँ ईश्वर के प्रति अटूट आस्था, विश्वास तथा श्रध्दा को ही व्यक्त करती हैं। इसमें कवि का भक्तिभाव ही प्रधानतः मुखरित हुआ है।

'जहाँ है अक्षय स्वर झंकार' कविता 'विषाद' की रचना आरंभ करने के पूर्व वंदना के रूप में रखी गई है जिससे कवि की भक्तिभावना का ही परिचय मिलता है। वह सरस्वती के मंदिर में प्रविष्ट होने से हिचकिचाता रहा है। सरस्वती के मंदिर में तो उनसे भी अधिक पहुँचे हुए गुणीजनों को गान गूँज रहा है। वह दीन, अकिंचन और उपहार विहीन है। अतः उसे वहाँ जाने में संकोच होता है। दीनता के कारण वह निरुपाय हो वापस लौट जाने की सोचता है, किंतु ईश्वर के अलावा उसके सम्मुख और कोई अवलंबन नहीं है। उसकी पूजा का थाल रिक्त है और हृदय में भीषण हाहाकार मचा हुआ है। उसके हृदय का उद्यान सूखकर निर्जन एवं सुनसान बन गया है। उसकी हृदयतंत्री का तार टूट जाने से वह भी बेकार हो गई है। इस प्रकार वह हर तरह से दीन हीन एवं अकिंचन हो गया है। किंतु अंत में वह आँसुओं के प्रचुर प्रवाह, हृदय के दाहक दाह, धर्म के गहरे घाव, साधनों के अभाव एवं वेदना के चिर चित्कार-इन सब को गूंथ कर एक हार बना कर ईश्वर के चरणोंमें उपहार स्वरूप चढ़ाना चाहता है। अपने इस उपहार को पाकर वह मन ही मन सोचता है कि वह अकिंचन या दीन नहीं।

'पाथेय' में भी कवि का भक्तिभाव प्रकट हुआ है। 'अक्षत-दान' कविता में कवि ने प्रकारांतर से यही कहना चाहा है कि ईश्वर तो भाव का भूखा है। यदि तुम अकिंचन हो, तुम्हारे पास देने को कुछ नहीं है, किंतु तुम्हारी भावनाएँ पवित्र हैं तो मनुष्य के व्दारा दिया जानेवाला क्षुद्र दान भी ईश्वर की दृष्टिमें महत् स्थान प्राप्त कर लेता है। ईश्वर उस लघुदान से भी संतुष्ट हो जाता है। निम्न पंक्तियों में यही भाव प्रकट हुआ है :

"धन्य अहा! देखा मैंने, --
तू संतुष्ट महान्;
सब मणि-रत्नों के ऊपर है

मेरा वह लघु-दान !"[1]

'दैनिकी' की 'अविचल' कविता में भी भक्तिभावना का स्वर ही मुखरित हुआ है। कवि रस रस विहीन है। उनमें कुरूपता ही उभरकर प्रकट हुई है। वह अज्ञान के अंधकार में विचरण कर रहा है और तब तक अविचल रहकर प्रतीक्षा करना चाहता है जबतक कि ईश्वर स्वयं उन्हें अज्ञान के अंधकार से उठाकर ज्ञान की ज्योति प्रदान न करे। उनके गले में शत शत बंधन पड़े हुए हैं तथा कण्ठ शुष्क हो चुका है। तब भला मधुर ताल लय कैसे उत्पन्न हो सकता है। जबकि ईश्वर तो निरंतर मधुर की ओर ही झुकता आया है। कवि अपने हृदय की चीत्कार को तब तक प्रकट करते रहना चाहता है जब तक ईश्वर अपने श्रवण व्दार का पथ खोल नहीं देता :

"मैं अविचल हूँ यह, नहीं टलूँगा तब तक,
उन्मुख होते हो नहीं स्वयं तुम जब तक।"[2]

'मृण्मयी' की 'छल' शीर्षक कवितामें ईश्वर के प्रति अटूट आस्था का भाव ही प्रकट हुआ है। इसमें कवि ने भक्तिभावना का महत्व प्रकट करते हुए यह प्रदर्शित करना चाहा है कि हमें भक्ति का ढोंग न रचते हुए सच्चे भाव से ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। भक्तिहीन मानव की पूजा ईश्वर को स्वीकार्य नहीं होती। कवि की ईश्वर पर अटूट आस्था है। अत: जब वह विकट संकट को सम्मुख देखता है, तब वह सहायता के लिये ईश्वर को पुकारता है। ईश्वर अपने भक्त के हृदय की पुकार सुनकर उसकी सहायतार्थ आ जाते हैं। उसी क्षण चमत्कार होता है और कवि उस संकट से उबर जाता है। इस प्रसंग के व्दारा कवि ने प्रकारांतर से यही प्रकट करने का प्रयत्न किया है कि मानव मन सागर की लहर के समान चंचल होता है, जिसे वश में करना कठिन है, किंतु सच्ची भक्ति एवं सेवा के माध्यम से मन को वश में करके ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त किया जा सकता है।

'अमृतपुत्र' में भी कवि ने सच्ची भक्ति के प्रति आग्रह प्रकट किया है।

---

१. पाथेय : 'अक्षतदान' : कविता : पृ. १३७
२. दैनिकी : 'अविचल' कविता : पृ. ६२

उनका मानना है कि जो भक्त सच्चे हृदय व आत्मा से ईश्वर का भजन करता है, ईश्वर उसे बहुत चाहता है तथा उसका उध्दार करता है। अत: प्रत्येक मनुष्य को सच्चे हृदय से ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। ईश्वर की दृष्टि में न कोई स्पृश्य है न अस्पृश्य। अत: हमें भी मानव-मानव के बीच भेदभाव नहीं रखना चाहिए।

'हमारी प्रार्थना' में आस्तिकता और भक्ति का वह रूप दिखाई देता है जो कवि जीवन का प्रधान अंग है। इस रचना में कवि का दृष्टिकोण वाणीको पवित्र करना तथा दृष्टिको नवीन दर्शन की उपलब्धि कराना रहा है। सर्वत्र अज्ञात सत्ता की महत्ता के गीत ही गाये गए हैं जिनमें सर्वत्र समर्पण की भावना पाई जाती है। इसमें सर्वधर्म समभाव के साथ धार्मिक स्वर ही प्रधान रूप से मुखरित हुआ है। इससे कवि के आस्तिक और भक्त हृदय का सहज ही परिचय मिलता है।

'गोपिका' में भी गुप्तजी की वैष्णव भावना ही मुखरित हुई है। वैष्णवता से प्रभावित होते हुए भी श्री सियारामशरणजी अन्य धर्मों के प्रति आस्था एवं श्रध्दा रखते हैं। वे एक ऐसे मानव धर्म की कल्पना करते हैं जहाँ विश्व के समस्त धर्म एक हो जाते हैं। बुध्द के वचनों का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करना और प्रभु ईसा के संबंध में 'अमृतपुत्र' काव्य लिखना यह सिध्द करता है कि उनके हृदय में अन्य धर्मों के प्रति भी पूर्ण आस्था थी।

'गोपिका' के अंत में शिव पार्वती की पूजा का विधान है; जिससे यह सिध्द होता है कि वे राम, कृष्ण, शिव एवं विष्णु के प्रति श्रध्दावान होते हुए भी अन्य धर्मों के महापुरुषों को मान्यताप्रदान करते हैं। संक्षेप में, सियाराम-शरणजी भी युगपुरुष महात्मा गांधी के समान भक्ति में श्रध्दा, विश्वास एवं विनय के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, तथा सर्वधर्म समभाव का आदर्श ही प्रकट करते हैं। उनकी वैष्णवता का स्वरूप अत्यंत व्यापक है : "सियारामशरणजी की वैष्णव भावना में सभी प्राणियों का मंगल निहित है। उन्हें 'सर्वेभवन्तु सुखिन:' अत्यंत प्रिय है। मानव अपने सारे भेदभावों को मिटाकर समता की समतल धरतीपर एक दूसरे के गले मिले – सियारामशरणजी यही चाहते हैं। उनकी व्यक्तिगत साधना

में भी समाज का हित है, मंगल है। उनके व्यक्तित्व का यही गुण उनको युगीन कवियों में विशिष्ट स्थान देता है। इस भौतिक वादी युगमें विज्ञान के थपेड़ों से सहमी हुई आस्था को सियारामशरणजी जैसे कवि ही आश्रय दे सके हैं। इसे चाहे वैष्णवता का उत्कर्ष कहिए चाहे भक्तिभावना का दृढ़ आधार। नये युग में पुरानी दृढ़ मान्यताओं का सहारा लेकर रहना विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। यही विशिष्टता सियारामशरणजीके कवि को अमर बना देती है।"[१]

रामनाम की महिमा का गुणगान :

गांधीजी के धर्म में रामनाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रामनाम में गांधीजी सदा आस्थावान थे। उन्हें ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती थी। जिस प्रकार उनके व्यापक धर्म में सर्वधर्म समन्वय की अपूर्व भावना है, उसी प्रकार उनका ईश्वर नाना नाम स्वरूप का होते हुए भी एक है, जिसे हम खुदा, राम, रहीम कहकर संबोधित करते व पहचानते हैं। गांधीजी के राम किसी जाति या वर्ग विशेष के राम नहीं है, वे तो संपूर्ण समाज के राम हैं, जिनके राज्य में अमीर गरीब, छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान सबका स्थान एक समान है। स्पष्ट है कि गांधीजी का यह राम सभी धर्मों का अधिष्ठाता राम है। यह राम विश्वव्यापक और सर्वशक्तिमान ईश्वर है। सियारामशरणजी को भी राम पर अटूट आस्था है। उन्होंने राम की व्याख्या इन शब्दों में की है :

"नहीं दूसरा है वह कोई,
उसे रहीम कहो या राम,
भिन्न उसे कर सकते हो क्या,
देकर भिन्न भिन्न कुछ नाम?
मंदिर में जो, मस्जिद में भी
ज्योति उसीकी फैली है;
यदि तुम देख नहीं सकते, तो
दृष्टि तुम्हारी मैली है।"[२]

१. सियारामशरण गुप्त : सृजन और मूल्यांकन : डॉ. ललित शुक्ल - पृ. ३७२
२. आत्मोत्सर्ग : पृ. २०

राम नाम इस भवसागर से पार होने का श्रेष्ठ साधन है। इसी कारण कवि 'विश्वास' कविता में ईश्वर से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें जो चाहे दण्ड दें किंतु उनकी ईश्वर के प्रति अटूट आस्था को निरंतर बनाये रखें क्योंकि इसी विश्वास के सहारे वे इस संसार सागर को तर सकते हैं।

'मौर्य विजय' काव्य का आरंभ भी राम की प्रार्थना से ही हुआ है जो कवि की वैष्णव भावना का द्योतक है। गुप्तजी गांधीजी के समान समस्त विश्व को धर्माच्छादित देखना चाहते हैं। कवि जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये ईश्वर से अभयदान चाहता है। जीवन संग्राम से तात्पर्य जीवन में आनेवाली कठिनाइयों से है, जिससे घबड़ाकर कभी कभी मनुष्य एकदम परास्त हो जाता है। निम्न पंक्तियों में अभय की याचना की गई है :

"भक्तजनों के ह्रदयकमल विकसित करने को,
अनुपम धर्मालोक भुवनभर में भरने को,
जिन प्रभु ने अवतार स्वयं ही धारण करके, -
मारे निशिचर वृंद भार भूतल का हरके,
वे रावणारि रघुवंश रवि
विश्वेश्वर, कल्याण मय,
दें इस जीवन-संग्राम में,
हमें अभय करके विजय।"[1]

इन पंक्तियों में कवि की भक्तिभावना का ही परिचय मिलता है। सियारामशरणजी का मानना है कि रामनाम का सहारा लेकर मनुष्य इस भवबंधन से मुक्त हो सकता है। रामनाम रूपी यह अमृत ऐसा अविरल है जिसे बार बार पीने पर भी तृष्णा जैसी की तैसी बनी रहती है। इस भक्ति रूपी जल का जितना अधिक पान किया जाय उतना कम है। भक्ति की यह भावना चिरंतन एवं शाश्वत है जो युगयुगांतर तक लोगों के मन में विद्यमान रहकर असंख्य लोगों के मन व ह्रदय को परिष्कृत कर उसे पवित्र एवं प्रेममय रूप प्रदान करती रहेगी। सुख के समय ये भक्तिगीत हमें विशेष आनंद प्रदान करते हैं और दु:ख के समय में

---

१. मौर्य विजय : पृ. २१

वाक्य हमें सांत्वना प्रदान करते हैं। 'तुलसीदास' कविता में कवि ने भक्ति को हृदय की परिष्कृति के लिये अनिवार्य बतलाया है और रामनाम को मुक्ति का महामंत्र माना है :

"अंतर्बाहय-प्रकाशक तुमने
दिव्य-दीप दिखलाया,
तुमने हमें मुक्त होने का
राममंत्र सिखलाया।"[1]

इन पंक्तियों में रामनाम की महिमा का गुणगान ही कवि ने किया है सियारामशरणजी को राम का कोई भी स्वरूप स्वीकार्य है। वे राम के किसी भी रूप के सम्मुख श्रध्दा से नतमस्तक होने को उद्यत जान पड़ते हैं। 'अमृतपुत्र' में कवि ने अपनी भक्तिभावना को प्रकट करते हुए राम की प्रार्थना इस रूप में की है :

"राम, वन-वन में तुम्हारा संचरण,
हो जहाँ जिस रूप में नत हो सकूँ।
शूल वह जो भव-विभव पातक हरण,
त्वरित करके कण्ठ में टुक ढो सकूँ।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सियारामशरणजी की भी रामनाम में पूर्ण आस्था थी और वे राम को सभी धर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर ही स्वीकार करते थे।

प्रार्थना की उपादेयता :

राम की उपासना के लिये प्रार्थना सबसे आवश्यक साधन है। महात्माजी की प्रार्थना पर पूर्ण श्रध्दा थी। उनका विश्वास था कि प्रार्थना व्दारा भूला-भटका व्यक्ति भी राह पा सकता है। सियारामशरणजी ने भी

---

१. दूर्वादल : 'तुलसीदास' कविता से : पृ. ५५
२. अमृतपुत्र : पृ. २०

उज्वल, स्वच्छ, जल की भाँति निर्मल जीवन बनाने की ईश्वर से प्रार्थना की है :

"हे जीवन-स्वामी तुम हम को
जल-सा उज्वल जीवन दो !
हमें सदा जल के समान हो
स्वच्छ और निर्मल मन दो !"[1]

मानसिक शांति के लिये भी कवि ईश्वर से शुध्द शांतिजल बरसाने की प्रार्थना करता है :

"शुध्द शांति-जल बरसाओ तुम
उर-क्षेत्र पर हे प्राणेश !
यही प्रार्थना करते रहना
हुआ हमारा था उद्देश ।x....
अब झट हल का संघर्षण कर,
इष्ट बीज बो दो हे विभुवर ।
सफल काम करना फिर करके
शांति-वारि-वर्षा सविशेष ।"[2]

अपने लिये तो सभी प्रार्थना करतेहैं, परंतु जो ईश्वर को भूलकर धर्मभ्रष्ट हो गए हैं, ऐसे पापी एवं अत्याचारी मनुष्य के लिये क्षमायाचना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करना अद्भुत है। 'अमृतपुत्र' में ईसु अपने आततायियों को क्षमा कर ईश्वर से उन्हें माफ कर देने के लिये प्रार्थना करते हैं :

"कर क्षमा उनको पिता, तू कर क्षमा;
कर रहे क्या, वे नहीं यह जानते।"[3]

---

१. दूर्वादल : 'सुजीवन' कविता : पृ. ३३
२. वही : 'अपूर्ण याचना' कविता : पृ. ३४-३५
३. अमृतपुत्र : पृ. ६७

इसी प्रकार 'गोपिका' में भी सर्व मंगल की शुभकामना को लेकर ईश्वर से प्रार्थना की गई है। इन्दु पार्वती से प्रार्थना करती हुई सर्वजन मंगल की कामना ही प्रकट करती है :

"जय जय गिरिराज सुते -....
... ताप यह शीतल हो,
मेरा व्रत संबल हो,
सर्वजन मंगल हो,
वर दे महेश युते - जय जय।"[1]

इस प्रकार प्रार्थना या याचना करके सियारामशरणजी ने प्रार्थना की उपादेयता को ही प्रकट किया है।

कर्म के प्रति आग्रह :

लोकसेवा और विश्व कल्याण को धर्म माननेवाला मनुष्य निरंतर कर्म में निरत रहता है। उसे कर्म में ही प्रभु के दर्शन होते हैं। अकर्मण्य बनकर धर्म का झूठा दंभ भरना अपने साथ समाज को भी धोखा देना है। सियारामशरणजी ने 'दूर्वा-दल' की कुछ कविताओं में कर्म के महत्त्व को प्रदर्शित कर निरंतर कर्मण्यशील बने रहने का आग्रह प्रकट किया है :

"करना हो जो करें शीघ्र हम
तज आलस्य अभंग,
क्या जाने कब छूट जाय इस
समय-सखा का संग।"[2]

समय गतिशील है। अत: हमें समय रहते अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारीपूर्वक करना चाहिए। यदि हमने समय रहते आलस्यवश कार्य नहीं किया तो अंत में हमें पछताना होगा और कार्य की अपूर्णता से हमारे मन में

---

१. गोपिका : पृ. ४०
२. दूर्वा-दल : 'गत दिवस' कविता : पृ. ४८

असंतोष एवं अशांति उत्पन्न होगी। अत: मन की शांति के लिये यह आवश्यक है कि हम दिन में विश्राम किये बिना अविराम गति से कार्य करें ताकि संध्या समय इतने थक जायें कि हम शांतिपूर्वक गहरी नींद सो सकें और जब जागृत हों तो हमारे मन में कर्म के प्रति दुगुना उत्साह हो।

गांधीजी ने युग को कर्म का पावन मंत्र दिया था। वे सच्चे कर्मयोगी थे। सियारामशरण ने भी गांधीदर्शन से प्रभावित होने के कारण कर्म के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में जीवन में कर्म ही सबकुछ है। काम करनेवाले व्यक्ति को विराम कैसा ?

"हे नाथ, न लें विराम हम,
दिन-भर करें बस काम हम।
संध्या समय ऐसे थकें
हम नींद गहरी ले सकें।"[१]

अपने जीवन के अल्पकाल में मनुष्य सब कुछ करने के लिये उद्यत रहता है। कर्मशील जीवन में प्रेरणा और साहस बड़ा काम करते हैं। सियाराम-शरणजी ने इसीलिये कर्मठता की ओर विशेष ध्यान दिया है। ऐसी कर्मठता जो जीवन में पुलक और हर्षभर दे।

'दैनिकी' की 'खनक' कविता में भी कर्तव्य परायणता एवं दृढ़ता के प्रति कवि का आग्रह प्रकट हुआ है। इस कविता में कवि ने हमें दृढ़ मनोबल रखते हुए अपने कर्तव्य के प्रति अडिग रहने का उद्बोधन दिया है। कठिन परिस्थिति में संघर्षरत हो कर्तव्यपथ पर अडिग रहने वाला मनुष्य एक दिन अवश्य अपने गंतव्य तक पहुँचने में सफल हो जाता है। निम्न पंक्तियों में कवि ने इसी कर्मण्यता के प्रति आग्रह प्रकट किया है :

"हे खनक, किये जा कूप-खनन,
तू यहाँ बीच में ही न हार।"[२]

----

१. दूर्वा-दल : 'मृत्युंजय' शीर्षक कविता : पृ. २५
२. दैनिकी : 'खनक' कविता : पृ. ३६

'पाथेय' की 'नेत्रोन्मीलन' कविता में भी आलस्य को त्याग कर कर्मशील बने रहने का आग्रह प्रकट हुआ है। कवि नूतन यात्रा के लिये निकला है। वह मार्ग की कठिनाइयों का किसी प्रकार सामना कर अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। उसकी दृढ़ता के कारण प्रतिकूल वातावरण, समय और ऋतुएँ भी उसके अनुकूल बन जाती हैं। कुहू के मादक स्पर्श एवं स्वर को सुनकर क्षणभर के लिये उस पर तंद्रा छा जाती है। वह निष्क्रिय सा होने लगता है। असमय की यह श्रांति उसके मनको अवसाद पहुँचाती है। वह कर्मधारा में निरंतर जागृत हो बहना चाहता है। अभी तो उसका कार्य भी अपूर्ण है और मोह तंद्रा ने उसके मस्तिष्क को आवृत्त कर लिया है। तभी उसे कुहू के व्दारा नवजागृति प्राप्त होती है। उसमें नूतन स्फूर्ति का संचार होता है। यहाँ कवि ने असमय की अकर्मण्यता पर विषाद प्रकट कर कर्म के प्रति जागरूक रहने का आग्रह प्रकट किया है।

'नकुल' में भी निष्काम कर्मयोग के प्रति कवि का आग्रह प्रकट हुआ है। अर्जुन के अमरपुरी जाने व वहाँ से अप्रभावित हो वापस लौटने के प्रसंग में कवि ने अर्जुन को निस्पृह और आसक्ति रहित बताकर प्रकारांतर से यही प्रदर्शित करना चाहा है कि मनुष्य को सांसारिक कठिनाइयों से परेशान होकर स्वर्ग प्राप्ति की कामना नहीं करनी चाहिए, वरन् उसे अर्जुन के समान निष्काम कर्मयोगी बनकर अपने जीवन का उन्नयन कर मनुष्यत्त्व में ही देवत्त्व के गुणों की प्रतिष्ठा कर इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसीमें मानवजाति का गौरव सुरक्षित है।

अर्जुन सच्चे अर्थों में कर्मयोगी था। वह संसार की कठिनाइयों से त्रस्त होकर देवलोक में पलायन करना नहीं चाहता। उनका मानव के कर्तव्य पालन धर्म में पूर्ण विश्वास है। दाम्पत्य जीवन की सार्थकता यही है कि इसी भूमि पर सुख दु:ख के क्षण बिताए जाएँ। इसीमें नारी की गरिमा बढ़ती है और वे अपने प्राकृत धर्म का पालन भी करते हैं। इसीलिये जब द्रौपदी उस मनोहर बेला में अर्जुन के संग प्राणपखेरू उड़ जाने का विचार प्रकट

करती है तब अर्जुन को द्रौपदी का वह पलायन भाव अरुचिकर प्रतीत होता है। वह उसका विरोध करते हुए कहता है :

"करो न यों प्रियतमे, आज जो हल्का हल्का,
उड़ें हमीं तो भार कौन ले भू मण्डल का ।
विधि ने विरचे नहीं सिंह-सिंही उड़ने को
उनके गौरव इसी मृण्मयी से जुड़ने को ।"[1]

उचित यही है कि मनुष्य अन्य लोक के सुखोपभोग की कामना करने की अपेक्षा अपने ही स्तर की कामना करे। हमें अपने मर्त्यलोक की चारु अखण्डता में पूर्ण आस्था एवं विश्वास होना चाहिए।

'हमारी प्रार्थना' में भी कर्ममार्ग के महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है। चाहे हम सौ वर्ष जीयें, हमारा यह दीर्घ कालीन जीवन तभी इष्ट है जब कि हम कार्य में निरंतर निरत रहें। शरीरधारी जीव के लिये यह कर्ममार्ग ही एकमात्र उचित मार्ग है। कर्म से मानव विषयवासनाओं में लिप्त नहीं होता :

"करते हुए ही कर्म इस संसार में
शत वर्ष का जीवन हमारा इष्ट हो ।
तुम देहधारी के लिये पथ एक यह
अतिरिक्त इससे दूसरा पथ है नहीं ।
होता नहीं है लिप्त मानव कर्म से
उससे चिकटती मात्र फल की वासना ।"[2]

गीता में भी निष्काम कर्मयोग का ही उपदेश दिया गया है। इसमें यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को अपना जीवन निरर्थक न बीताकर सदैव कर्म में निरत रहना चाहिए। यही एकमात्र यथेष्ट मार्ग है। इस प्रकार सियारामशरणजी की कविताओं में कर्ममार्ग को अपनाने का आग्रह प्रकट हुआ है। उनका मानना है कि कर्मयोगी बनकर ही मनुष्य मानवता की सच्ची सेवा करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

---

१. नकुल : पृ. ६९
२. हमारी प्रार्थना : अनुवादक : सियारामशरण गुप्त : पृ. ९-१०

सेवा और परोपकार :

सेवा गांधीदर्शन का महान अंग है। मानव सेवा के माध्यम से ही गांधीवादी सत्याग्रही अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन सफलतापूर्वक कर सकता है। सेवा के अंतर्गत गांधीजी ने मानवता की सेवा को सेवा का सर्वोच्च रूप बतलाया है। वे मानवता की सेवा के अतिरिक्त पशुओं एवं प्रकृति की सेवा का पाठ भी पढ़ाना चाहते थे। सियारामशरणजी ने भी दरिद्रनारायण की सेवा को सेवा का सर्वोच्च रूप माना है।

'अनाथ' में कवि की मानवतावादी चेतना ही मुखरित हुई है। इसमें ग्रामीण जीवन के परिवेश में भारतीय कृषक का करुण चित्र अंकित किया गया है। गांधीजी दरिद्र नारायण की सेवा को ही सेवा का सर्वोच्च रूप व परम धर्म मानते थे। मानव के प्रति प्रेम की भावना रखना एक धार्मिक कर्म था। "जो मनुष्य नर से प्रेम नहीं करता, उसकी नारायणभक्ति निर्मूल है, आत्मप्रवंचना है।"[१] कवि ने 'अनाथ' में जमींदारी शोषण, सरकारी कर्मचारियों एवं ग्रामीण साहूकारों के अत्याचार से पीड़ित एवं शोषित दरिद्रनारायण मोहन के कष्ट सहन का मार्मिक चित्र अंकित कर मनुष्यमात्र की इसी प्रकार की अवहेलना पर करारा व्यंग्य किया है।

'आत्मोत्सर्ग' में भी कवि ने दरिद्रनारायण को ही ईश्वर माना है। इसमें कवि ने विद्यार्थीजी को मानवता के सच्चे सेवक के रूप में चित्रित किया है। विद्यार्थीजी अहिंसक व्रतधारी थे, उन्होंने अपने अहं को पूर्णतया विगलित कर दिया था। वे ऊँचनीच तथा अपने पराये के भेद से पूर्णतया ऊपर उठ चुके थे। उनकी दृष्टि में मानव सेवा ही मनुष्य का परम कर्तव्य था। इसीलिये अपने स्वजनों की विरक्ति सहकर भी उनकी रक्षा का प्रयत्न वे करते रहे। वे दीन दरिद्र देशवासियों में ही नारायण को स्थित पाते थे। निम्न पंक्तियों में उनके इसी सेवाभावी रूप का गुणगान कवि ने किया है :

"दीन-दरिद्र देशवासी थे
तुझे स्वयं नारायण-रूप,

---

१. गांधी मीमांसा : पंडित रामदयाल तिवारी : पृ. ११२

श्रमियों का संगी कृषकों का
अंगी था तू भाषा-भूप ।
निर्धनता का गर्वी था तू,
विघ्न-विजेता, गुणी गणेश,
जिस पर तू बलिदान हुआ है
तेरी तुक है तेरा देश ।"[1]

मानवता की सेवा करते हुए ही अंत में उन्होंने अपनी आत्मा का उत्सर्ग कर दिया। यही मानवता की सेवा का सर्वोच्च उदाहरण है।

तप एवं वैराग्य का महत्त्व :

नीतिपूर्ण धार्मिक आचरण के लिये गांधीजीने तप और वैराग्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। सियारामशरणजी का मानना है कि पवित्र धर्म का आचरण करना ही मनुष्य के लिये मंगलमय है। इस मंगलमय धार्मिक आचरण के लिये तप करना अनिवार्य है। अत: उन्होंने अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अंतर्गत तप संबंधी अपने विचार भी प्रकट किये हैं। गांधीजी कंदराओं में जाकर तप करने के पक्षपाती नहीं थे। उनके विचारानुसार इस संसार में रहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करने में ही धर्म की उपलब्धि हो सकती है। "जो आदमी स्वयं शुध्द है किसी से व्देष नहीं करता, किसी से नाजायज फायदा नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वहीं आदमी धार्मिक है।"[2] सियारामशरणजी भी संसार त्यागकर अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन बनकर गुफा में तपस्या करना अनुचित मानते हैं। 'मृण्मयी' की 'मंजुघोष' कविता में उन्होंने अपने इन्हीं विचारों की पुष्टि की है :

"धर्म और तप है तुम्हारा यही,
ज्ञान-कर्म सारा यही;
घर है तुम्हारे यह, और तुम जाओगे
वन में इसीके अर्थ ?
अर्थ नहीं, यह तो महा अनर्थ।"[3]

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ७
२. मेराजीवन या अहिंसा की परीक्षा या सिध्दांत : म. गांधी : पृ. ३७
३. मृण्मयी - 'मंजुघोष' कविता - पृ. ३८

तप में मानव कल्याण का पावन प्रसाद अंतर्निहित रहता है। इसीलिये धर्म में आत्मकष्ट सहन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। वास्तव में दूसरों के कष्ट का आभास पा लेना ही वास्तविक तप है। 'मृण्मयी' में कवि ने धरती के प्रति प्रेमभाव प्रकट करते हुए इसी विचार को प्रकट किया है तथा सांसारिक कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन बादल को नैतिकता के प्रति सचेत किया है :

"जाना कभी चाहते विजन को ?
तप जो तपोगे तुम, आज वही
तप तपती है यह माता मही।
क्लेश बोध उसका हुआ जो तुम्हें मनमें,
श्रेष्ठतर तप है तुम्हारा यही जीवन में।"[1]

इस कविता में कवि ने गांधीजी के समान साधना के मार्ग को दुर्गम एवं विषम बताया है। 'दूर्वादल' की कुछ कविताओं में भी कवि ने आत्मशुध्दि के निमित्त तप के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में तप के व्दारा ही मनुष्य का शरीर शुध्द एवं पवित्र बनता है। 'समीर के प्रति' कविता में कवि ने वेदाग्नि में तपे हुए समीर की शुध्दता की ओर संकेत किया है। यह समीर पृथ्वी के दु:ख से अभिभूत हो स्वयं भी दु:खी हो जाता है। जिस ताप से यह पृथ्वी विदग्ध होकर तड़पती है, उसी ताप की अनुभूति समीर करता है। वह अपनी देह को उस ताप में जलाकर कुंदन बना देता है। कवि समीर के उस महान रूप को देखकर उसके प्रति मुग्ध हो उठता है और उसके साथ भ्रमण की आकांक्षा करता है। कवि ने समीर के माध्यम से हमें यह संदेश देना चाहा है कि हमें समीर के समान अपने आलस्य, अकर्मण्यता एवं संकुचित स्वार्थ भावना को त्याग कर सतत भ्रमणशील, गतिशील एवं प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। अपने व्यक्तित्त्व को यथासंभव उदार, शुध्द एवं निर्मल बनाना चाहिए तथा दूसरों के दु:खों का भागी बनकर उन्हें दु:ख बाँटने में सहायता करनी चाहिए। इस तरह स्वयं दु:खाग्नि में जलकर अपनी

---

१. मृण्मयी : 'मंजुघोष' कविता : पृ. ४३

देह को कुंदन की तरह पवित्र एवं निर्मल बनाना चाहिए। निम्न पंक्तियोंमें कवि ने समीर के समान तपपूर्ण जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा प्रकट की है।

"चलो, आज उड़ चलें वहाँ उस देश में,
दीखें सब जन वहाँ तुम्हारे वेश में।
दे यह जीवन-डोर तुम्हारे हाथ में,
घूमें देश-विदेश तुम्हारे साथ में।"[१]

'मूर्ति' कविता में कवि ने मनुष्य की अपेक्षा मूर्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। मूर्ति की महानता, आज्ञाकारिता वास्तव में सराहनायोग्य है। मनुष्य में भला मूर्ति की सी वह आज्ञाकारिता, वैराग्य, कष्ट साधना एवं निर्लिप्तता का भाव कहाँ? मूर्ति वर्षा, शीत एवं उष्मा से अप्रभावित निरंतर मौन धारण किये अविश्रांत, ध्यान में निमग्न वर्षों से खड़ी है, मानो वह किसी अपूर्व अनुष्ठान में जुटी हुई हो। वह वर्षों से कड़ी तपस्या व विकटतर साधना कर रही है। वह सुख दु:ख दोनों ही अवस्था में एक ही भाव धारण किये रहती है। न जाने उसके इस वैराग्य का अंत कब होगा? कवि मूर्ति के समान ध्यानमग्न होकर कठिन साधना, तप एवं वैराग्य व्दारा अपूर्व अनुष्ठान में संलग्न होना चाहता है। वह भी मूर्ति के समान कष्ट सहन करते हुए वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता है, किन्तु मनुष्यमें भला ये तत्त्व कहाँ मिलेंगे? अत: कवि मूर्ति बनना चाहता है :

"हाय! यदि हम मूर्ति ही होते कहीं,
और होकर और तो होते नहीं।
प्राप्त जो तुमको महान महत्त्व है,
इस मनुजता में कहाँ वह तत्त्व है?"[२]

स्पष्ट है कि कवि ने योग एवं ईश्वर आराधना के लिये वैराग्य एवं आत्म कष्टसहन की आवश्यकता को स्वीकार किया है। मनुष्य सत्य की

---

१. दूर्वादल : 'समीर के प्रति' कविता : पृ. ६२
२. वही : 'मूर्ति' कविता : पृ. ६६

प्राप्ति तभी कर सकता है, जब वह निर्लिप्त भाव से वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए अविश्रांत साधना में निमग्न हो। इसमें धैर्य एवं उदारता का होना भी आवश्यकता है। मनुष्य का मन चंचल है। उसे कठिनता से ही वश में किया जा सकता है। मन को साधने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा जप और भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन पाठन इत्यादिक चेष्टाओं द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिये बारंबार प्रयत्न करने का नाम ही अभ्यास है। 'गीता संवाद' के छठे अध्याय में अभ्यास एवं वैराग्य के महत्त्व को ही दर्शाया गया है :

"है अवश्य महाबाहो! मन दुस्साध्य चंचल,
किंतु अभ्यास वैराग्य साध हैं सकते इसे।"[1]

अभ्यास के द्वारा ही मूर्ति में इतनी सहनशक्ति पैदा हो गई है कि सुख दु:ख में समभाव से ही खड़ी रहती है। यह मूर्ति विकटतर साधना में लीन है। जब रात्रि में बादलों की गर्जना होती है, तथा बिजली क्षणभर चमक कर अंधकार को और भी प्रगाढ़ बनाती है उस समय भी यह मूर्ति अविचलित सी वहीं खड़ी रहती है। वर्षा ही नहीं, कृतान्ताकार ग्रीष्म का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता –

"ग्रीष्म जब बनता कृतान्ताकार-सा,
गात होता तप्त तप्तागार-सा;
पर तुम्हें होता नहीं दुख-रोग है,
कौन सा हे योगिनी, यह योग है?"[2]

यह मूर्ति सदियों से इसी निश्चल भाव से खड़ी है। अनेक साम्राज्य ध्वस्त हो चुके हैं, अनेक राजा राज्यभोग कर चल गए, अनेक राजा भिक्षुक बन गए और भिक्षुक राजा बन गए। किंतु यह मूर्ति कभी विचलित नहीं हुई।

---

१. गीता संवाद : छट्ठा अध्याय : श्लोक ३५ : अनुवादक सियारामशरण गुप्त पृ. ६३

२. दूर्वादल : 'मूर्ति' कविता से : पृ. ६४

कवि मूर्ति की इस साधना से प्रभावित है और मूर्ति के समान कठिन साधना साधने के लिये धैर्य एवं शक्ति प्राप्त करना चाहता है।

व्रत और उपवास का आग्रह :

गांधी विचारधारा में व्रत और उपवास का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वयं गांधीजी ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति की वृध्दि के लिये कई बार व्रत उपवास किये थे। वे मन की शुध्दि के लिये जीवन में उसके महत्त्व को स्वीकार करते थे। इससे आत्मविश्वास दृढ होता है ऐसा उनका मानना था। सियारामशरणजी ने यद्यपि उपवास के बारे में प्रत्यक्ष रूप से तो कहीं अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं, किंतु 'गोपिका' में एक स्थान पर उन्होंने मानसिक उव्देग की शांति के लिये इन्दु को व्रत करते हुए चित्रित किया है। यद्यपि इन्दु जानती है कि जीवन बनाये रखने के लिये अन्न ग्रहण करना अनिवार्य है। अत: वह उसे प्रणाम करती है। किंतु उसका मन उव्दिग्न है। अत: वह अन्न ग्रहण न कर अपने व्यथित मन को शांत करने का निश्चय करतीहै :

"रहने दूँ आज वृंदवाटिका को।
मेरे गिरिवन ही बहुत हैं।
बिचरूँ निरन्न और निर्जन ही।
अन्न प्राणमय है, तथापि नमस्कार उसे।
उसका अनंगीकार व्रत उपवास बने।"[1]

गांधीजी ने भी कईबार मानसिक उव्दिग्नता के क्षणों में उपवास करके अपने मन को शांत किया था। यहाँ इन्दु व्दारा यही प्रयास परिलक्षित होता है जो कि गांधीदर्शन के अनुरूप ही है। इसी प्रकार 'आर्द्रा' की 'खादी की चादर' शीर्षक कविता में भी विधवा चम्पा मानसिक उव्दिग्नता की स्थिति में उपवास करते हुए चित्रित की गई है। इस अबला असहाय नारी का पति असमय ही स्वर्ग सिधार गया है। उसकी एकमात्र संतान भी विधि के निष्ठुर हाथों से छीन ली गई है। अपना अंतिम सहारा भी छीन लिये जानेपर

---

१. गोपिका : पृ. ५२-५३

चम्पा पर जैसे वज्राघात होता है। उसे दु:ख तो इस बात का है कि उसकी बेटी भूखी प्यासी ही चली गई। वह अपनी बेटी को दूध पिलाना चाहती है, किंतु वह निर्धन है, समाज व्दारा ठुकराई हुई है। उसके पास इतना धन नहीं, जिससे वह अपनी मृत बेटी के लिये दूध खरीद सके। अनायास ही उसे सामने कोने में रखा चरखा दिखाई देता है और वह सूत कातने लगती है तथा दिनरात निरंतर अपने इस कार्य में निमग्न रहती है। अपनी इस लगन में वह खाना-पीना तक भूल जाती है :

> "सूत कातती रही वहाँ वह
> जम कर बैठ कई दिन रात।
> उसे देख कहते सब कोई -
> मति बिगड़ गई इसकी।
> जाड़ा गया, किन्तु आसन से
> नहीं जरा भी वह खिसकी।
> भोजन वहीं पड़ा रह जाता,
> नहीं ध्यान भी वह देती।
> उठती जब तो बस थोड़ा-सा
> गंगाजल ही पी लेती।"[1]

अंत में एक दिन उसके इस कठिन व्रत का अंत होता है, और वह उस काते गये सूत से अपेक्षित अर्थ अर्जित कर अपनी बेटी के लिये दूध खरीदती है। इस प्रकार व्रत उपवास से जहाँ उसकी मानसिक उव्दिग्नता शांत होती है, वहीं अपने लक्ष्य की पूर्ति होने पर उसे उल्लास भी प्राप्त होता है। प्रस्तुत कविता में चरखा एवं खादी का उल्लेख कर तथा चम्पा को व्रत उपवास करते हुए चित्रित कर कवि ने गांधी प्रभाव को ही दर्शाया है।

---

१. आर्द्रा :'खादी की चादर': पृ. १२०

कवितामें नैतिक शक्तियों को अभिव्यक्ति : पाँच व्रतों को महत्ता :-

आत्मशुध्दि के लिये उपवास तो आवश्यक है हो, किंतु सत्याग्रही के लिये अन्य पाँच व्रतों का पालन करना भी अत्यंत आवश्यक है। मानव जोवन का मुख्य लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है। किंतु आज मनुष्य अपने लक्ष्य से च्युत होकर भोग एवं विलास वासना को हो प्रधानता दे बैठा है जो कि उसके जोवन का वास्तविक साध्य नहीं है। इसो भोग लिप्सा ने हो मानव जोवन को अशांत एवं अव्यवस्थित कर दिया है। चूंकि गांधोजो मनुष्य को इस स्थिति से उबारना चाहते हैं, अत: उन्होंने भोग एवं इन्द्रिय लिप्सा के स्थान पर त्याग और संयमपूर्ण नोतिप्रधान धर्म को व्यवस्था को है। सत्य को प्राप्ति का साधन अहिंसा है और अहिंसा पालन के लिये आत्मशुध्दि अनिवार्य तत्व है। आत्मिक उन्नति एवं ईश्वर साक्षात्कार के निमित्त हो गांधोजो नें ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अस्वाद, अपरिग्रह एवं अभय आदि व्रतों कें मनसा, वाचा, कर्मणा पालन पर विशेष जोर दिया है। सत्यशोध के लिये विकार रहित मन को आवश्यकता होतो है और इन्द्रिय निग्रह से हो मन विकार रहित होता है। इस प्रकार सत्य साधना के लिये ब्रह्मचर्य अपरिहार्य तत्व है। अस्वाद सिध्दांत ब्रह्मचर्य व्रत से हो संबंध्द है। अस्वाद का अर्थ है स्वाद न लेना। शरोर को जितनो आवश्यकता है उसो परिमाण में अन्न ग्रहण कर शेष चोजों का त्याग करने पर हमारे भोतर के विकार शांत हो जाते हैं। अस्तेय सिध्दांत को गांधोजो आत्मानुभूति के लिये आवश्यक मानते हैं। अस्तेय का अर्थ है चोरो न करना। मानव जोवन में अभाव एवं अपूर्ति हमेशा अनोतिपूर्ण आचरण के कारण बनते हैं। मन और मस्तिष्क दृढ़ न हो तो हम अनोतिपूर्ण उपायों को काम में लाने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार चोरो करना सत्यान्वेषण में बाधक होता है। अत: अस्तेय व्रत के पालन कर्ता के लिये यह जरूरो है कि वह उत्तरोत्तर अपनो आवश्यकताओं को घटाता जाय। इससे एक ओर जहाँ वह व्यर्थ को चोरो से बचेगा, वहीं उसके इस कार्य से दरिद्रता का भी थोड़ा बहुत अंत हो जावेगा। गांधोजी अनावश्यक संग्रह को भी एक प्रकार को चोरो मानते हैं अत: वे सत्यशोधक के लिये अपरिग्रही होना आवश्यक मानते हैं। ईश्वर साक्षात्कार केवल उसो

स्थिति में संभव है, जब मनुष्य में स्थित ईश्वर की सेवा निष्काम एवं समर्पण भावना से की जाय। किंतु निष्काम सेवा एवं समर्पण भावना मनुष्य में तब तक नहीं आ सकती जबकि उसका मन संग्रह और सम्पत्ति के मोह में फंसा हुआ है। यही कारण है कि गांधीजी अपरिग्रह को नितांत अनिवार्य बताते हुए आवश्यकता पड़ने पर प्राण त्यागने को भी तैयार रहने की सलाह देते हैं। इस तरह सत्य आचरण के लिये भयरहित होना नितांत अनिवार्य है। यदि हम सभी प्रकार के भय से मुक्ति पा लें तो दृढ़तापूर्वक सच्चाई के रास्तेपर चल सकते हैं। इस प्रकार आत्मशुध्दि एवं सत्यान्वेषण के लिये इन पंचव्रतों का पालन नितांत अनिवार्य हो जाता है। ये पाँच व्रत गांधीविचारधारा में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सियारामशरणजी के काव्यों में भी इन नैतिक शक्तियों की अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में हुई है।

ब्रहमचर्य का महत्व :-

सत्य की आराधना के लिये ब्रहमचर्य व्रत का पालन नितांत अनिवार्य है। ब्रहमचर्य से तात्पर्य मन, वचन और कर्म से इन्द्रियों का दमन करना है। संयत विवाहित जीवन भी ब्रहमचर्य का ही पालन है। सियारामशरणजी ने भी अपनी कुछ कविताओं में इन्द्रिय निग्रह के प्रति आग्रह प्रकट किया है।

'परीक्षा' शीर्षक कविता में कवि ने लोभ, क्रोध, मोहादि पर विजय प्राप्त कर [संसार के घात प्रतिघात सहन करते हुए] अपने मनोबल को दृढ़ बनाकर ऊपर उठने की प्रेरणा दी है। कवि विषयवासना से मुक्त हो आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करना चाहता है। अत: वह ईश्वर से दृढ़ शक्ति की याचना करते हुए कहता है कि जब मैं घात प्रतिघात को सहन कर, दु:खभार को वहन कर ऊपर चढ़ सकूँ, उस समय हे ईश्वर तुम मेरे मानसकमल में शांति सुगंध विकीर्ण कर देना :

"सबल बनूँ मैं घात प्रतिघात सहन कर,
ऊपर कुछ चढ़ सकूँ और दु:ख-भार वहन कर।
इस कठिन परीक्षा-कार्य में
हो जाऊँ उत्तीर्ण जब

कर देना मानस-सद्म में
शांति-सुगंधि विकीर्ण तब ।"[१]

इन पंक्तियों में विषयवासना से मुक्त हो संयमित जीवन द्वारा आत्मा के उन्नयन का आग्रह ही प्रकट हुआ है ।

'कामना' शीर्षक कविता में भी कवि ने विषयवासना को मानव जीवन के लिये अनिष्टकारी बताया है । ईश्वर मनुष्य के मन में निवास करता है । किंतु हम ईश्वर के क्रीड़ा स्थल उस मानस में निरंतर विषयवासनाओं के पत्थर फेंकते रहते हैं । अर्थात हमारा मन निरंतर विषयवासना में ही लिप्त रहता है । इन विषय वासनाओं से हमें हानि ही होती हैं, किंतु फिर भी हम इसीमें लगे हुए हैं जो कि अनुचित है :

"हाय ! तुम्हारे क्रीडा-स्थल इस
मानस में है हृदयाधार,
विपुल वासनाओं के पत्थर
फेंक रहे हम वारंवार ।
उलटी हमें हानि ही होती
यद्यपि इस अपनी कृति से,
किंतु इसी में लगे हुए हैं
यथा शक्ति हम सभी प्रकार ।"[२]

इस प्रकार विषयवासनाओं में घिरने के कारण जो जल स्वच्छ एवं निर्मल था वह भी पंकिल हो गया । तथा प्रतिपल उसका गाम्भीर्य घटता ही जा रहा है । कवि विषयवासनाओं से घिरकर घबरा उठता है । अत: वह विषयवासना में लिप्त अपने मलिन हृदय को स्वच्छ कर उसमें ईश्वर को निवास करने की प्रार्थना करता है :

---

१. दूर्वा-दल : 'परीक्षा' कविता : पृ. ३०
२. वही : 'कामना' कविता : पृ. ३१

"छिपा हुआ है पद्मासन जो,
यहीं तुम्हारे लिये कहीं,
उसके ऊपर चोट न आवे
यही विनय है करुणागार।"[1]

'गीता संवाद' में भी इन्द्रिय निग्रह और संयमित जीवन जीने पर विशेष बल दिया गया है। जिस तरह कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सब ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुध्दि स्थिर हो जाती है। इस तरह राग व्देष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों व्दारा विषयों को भोगता हुआ स्वाधीन अंत:करणवाला पुरुष स्वच्छता को प्राप्त होता है। उस निर्मलता को प्राप्त होने पर संपूर्ण दुखों से उसका छुटकारा हो जाता है। भोगों को चाहनेवाले कामी पुरुष को कभी शांति नहीं मिलती। जो मनुष्य संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित, अहंकार रहित, स्पृहा रहित होकर बर्तता है वह परमशांति को प्राप्त होता है। यह ब्रहम को प्राप्त पुरुष की स्थिति ब्राहमी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर वह मोहित नहीं होता। अंत में उसे ब्रहमानंद प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि गीता में भी ब्रहमानंद की प्राप्ति एवं मन की शुध्दि के लिये मन, वचन और कर्म से इन्द्रिय निग्रह करने की अनिवार्यता पर जोर दिया है।

अस्तेय का महत्त्व :-

सत्याग्रही का दूसरा व्रत अस्तेय सिध्दांत का पालन करना है। दूसरों के धन की कामना करना चोरी है। गांधीदर्शन में परधन प्राप्ति की लालसा का पूर्ण निषेध है। सियारामशरणजी ने भी अपनी कुछ कविताओं में इसकी अभिव्यक्ति की है। वे चोरी को नीति विरुध्द कार्य मानते हैं। उनके अनुसार किसी दूसरे की वस्तु को हथियाने या प्राप्त करने का मन में विचार लाना भी एक प्रकार की मानसिक चोरी है। 'लाभालाभ' कविता में कवि ने

---

१. दूर्वा-दल : 'कामना' कविता : पृ. ३२

श्रेष्ठी की अतिशय लालची वृत्ति की ओर संकेत करते हुए मानसिक चोरी की निंदा की है तथा उससे उत्पन्न मानसिक अशांति को प्रदर्शित कर धन के प्रति लालची वृत्ति त्यागने पर जोर दिया है। निम्न पंक्तियों में कवि ने श्रेष्ठी की अनैतिक मनोवृत्ति का ही चित्रण किया है :

"लूट गया हा! मैं सर्व-समक्ष, हुए मिट्टी मेरे शत लक्ष!
तुझे मैंने, ओ मेरे गेह,
गिराया क्यों न तभी निःस्नेह?"[1]

इन पंक्तियों में मानसिक अशांति तथा उससे उत्पन्न दुर्भावना का चित्र अंकित कर कवि ने मनुष्य की चोर वृत्ति पर प्रहार किया है।

'खिलौना' में भी कवि ने मानवीय असंतोष की भावना का सुंदर चित्र अंकित किया है। कवि मानव की इस असंतोषी प्रवृत्ति को अनुचित मानता है क्योंकि दूसरों की वस्तु पाने की यह लालसा मनुष्य को बुरे कार्य की ओर प्रेरित करती है और उसे नीतियुक्त मार्ग से पदच्युत कर देती है। इसमें दोनों बच्चों का खिलौना पाने की इच्छा करना मानसिक चोरी का ही परिचायक है। कवि ने प्रकारांतर से यही प्रतिपादित करना चाहा है कि मनुष्य को जो कुछ प्राप्त है, उसमें ही संतोष करना चाहिए। उसे दूसरों की वस्तु को बुरीदृष्टि से नहीं देखना चाहिए। अन्यथा उस वस्तु के प्राप्त न होने पर मानसिक अशांति ही पैदा होगी। अतः उचित यही है कि अस्तेय सिध्दांत का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन किया जाय।

अपरिग्रह के प्रति आग्रह :-

अस्तेय और अपरिग्रह सिध्दांत एक दूसरे से संबध्द है। किसी भी वस्तु को अपनाने की इच्छा न करना अस्तेय है और व्यर्थ में संचय न करना अपरिग्रह है। मनुष्य को उतना ही धन संचय करना चाहिए जितना उसके

---

१. मृण्मयी : 'लाभालाभ': पृ.२८

लिये आवश्यक हो, अर्थात् मनुष्य जीवन में त्याग की भावना अनिवार्य है। गांधीवाद से प्रभावित होने के कारण सियारामशरणजी ने भी अपरिग्रह एवं त्याग भावना का प्रबल समर्थन किया है।

"अनाथ" का मोहन अपरिग्रह वृत्ति से परिचालित जान पड़ता है। वह अपनी विपन्नावस्था से असंतुष्ट है। समाज के सेठ-साहूकार एवं मालगुजारों ने उसका शोषण करके उसे छारखार कर दिया है। उसकी स्थिति इतनी दयनीय हो गई है कि अथाह परिश्रम करने के बावजूद भी मुट्ठीभर दाना उसे उपलब्ध नहीं होता। अब ऐसा कोई सहारा नहीं बचा जिससे वह ऋण ले सके। उसे अधिक द्रव्य एकत्रित करने या ऊँचे महलों में रहने की आकांक्षा नहीं है, किन्तु वह अपनी न्याय्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ईश्वर से याचना करता है क्योंकि न्याय्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। वह अपने परिश्रम के बदले उतना धन-धान्य पाना चाहता है, जिससे वह अपने बच्चों की उदराग्नि को शांत कर सके।

"हम है क्या हे राम, यहाँ दु:ख ही सहने को;
नहीं दीखता और कहीं जग में रहने को।
नहीं चाहिए द्रव्य हमें या ऊँचे घर ही।
दो हमको भगवान! अन्न बस मुट्ठीभर ही।"[1]

'आर्द्रा' की 'वंचित' कविता में भी कवि ने एक ऐसे परिग्रही एवं लालची व्यक्तिकी कथा अंकित की है जो पारस पत्थर पाने की इच्छा को लेकर इधर उधर भटकता रहता है। रात दिन भूखा प्यासा रहकर कड़ी तपस्या करने के बाद भी उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिलती। एक दिन वह सरोवर के किनारे उदास मन लिये बैठा होता है, तभी उसे वह सुंदरी दिखाई देती है जो पारस पत्थर को साधारण पत्थर जानकर उससे अपनी एड़ी मलमलकर साफ कर रही है। उस पत्थर को वहीं देखकर उसका मन आनंद विव्हल हो जाता

---

१. अनाथ : पृ. ८

है। वह मन ही मन सोचता है कि जब वह युवती स्नानोपरांत घर वापस लौटेगी, तब वह उस पत्थर को चुपके से उठा लेगा। यहीं वह मानसिक चोरी करता है। किंतु उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थभावना से प्रेरित होने के कारण वह पारस पत्थर को सामने पाकर भी उससे वंचित हो रह जाता है। अपनी इस असफलतापर उसका मन व्याकुल हो जाता है। वह सुंदरी उसका उपहास उड़ाती है तथा उसकी इस लालची प्रवृत्ति को धिक्कारती है :

"दोष किसे देता है अरे अपात्र ?
मेरे लिये तो था वह लोस्ट मात्र।
तू ही जान बूझ के छला गया,
तेरे हाथ से ही यह रत्न चला गया।"[१]

यहाँ कवि ने मनुष्य को लालची प्रवृत्ति की निंदा कर अपरिग्रह वृत्ति के महत्त्व को ही प्रकट किया है। चूंकि उस नवयुवती को पारस पत्थर का लालच नहीं था, अत: उसे वह पत्थर आसानी से प्राप्त हो गया और उस परिग्रही व्यक्ति को वह पत्थर इसलिये नहीं प्राप्त हो सका क्योंकि उसका उद्देश्य शुभ नहीं था।

'खादी की चादर' में भी कवि ने चम्पा की अपरिग्रह वृत्ति का ही अंकन किया है। चम्पा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये सूत कातती है और उसके बदले सिर्फ उतना ही पैसा चाहती है, जितने पैसों की उसे आवश्यकता है। पण्डितजी उसे अधिक दाम देना चाहते हैं किंतु उस विधवा को धन का मोह नहीं, अत: वह अपनी आवश्यकतानुसार धन ग्रहण कर शेष धन वहीं छोड़कर चली जाती है :

"दो आने पैसे दो ! कहकर
अट्टहास कर उठी विकट।
देना अधिक उन्होंने चाहा-
'अधिक मूल्य का होगा यह'।

---

१. आर्द्रा : 'वंचित' कविता : पृ. १०१

ज्यादा पैसे वहीं फेंक कर
झट-से दौड़ गई पर वह।"[1]

यह पैसा भी वह अपने लिये नहीं जुटाती। उसकी बेटी प्यासी ही गंगातल में लेटी है। वह उस अथाह जल में दूध समर्पित कर बेटी की प्यास बुझाना चाहती है। ममता का ऐसा अनूठा रूप वास्तव में सराहनीय है।

'आत्मोत्सर्ग' में भी कवि ने विद्यार्थीजी के त्यागमय रूप का चित्र अंकित किया है। वे सच्चे अर्थों में अपरिग्रही थे। अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए वे किसी भी वस्तु को आसानी से त्याग सकते थे। उन्होंने जनहित के लिये अपने प्राणों तक का हँसते हँसते बलिदान दे दिया। यह उनके अपरिग्रह की चरम सीमा है। गांधीजी ने कहा था कि अहिंसा व्रत का पूर्ण पालन शरीर रहते संभव नहीं है। अत: अहिंसक व्रतधारी को अपनी देह के प्रति अधिक परिग्रह न रखते हुए आवश्यकता पड़ने पर उसे त्याग ने के लिये भी तैयार रहना चाहिए। निम्न पंक्तियों में कवि ने विद्यार्थीजी की इसी त्यागवृत्ति का अंकन किया है :

"तुच्छ चद्दियों का त्यागन यह
तेरे लिये बड़ी क्या बात ?
इसी तरह तनु तक उतार कर
तज सकता तू तो हे तात।"[2]

'पाथेय' की 'आहवान' शीर्षक कविता में त्याग एवं विनम्रता का महत्त्व प्रकट किया गया है। ऋतु क्रूर भावना का प्रतीक है। लतिकाएँ, वृक्ष एवं जलाशय के प्रतीक द्वारा कवि ने विनम्रता और त्याग भावना की ओर ही संकेत किया है। लतिकाएँ सहर्ष पुष्प एवं पत्र का दान कर स्वयं ताप में झुलस कर अपनी मृदुता को राख बनाने को तत्पर हैं। उनका धन पुष्प एवं पत्ते ही हैं। किंतु वे निष्काम भाव से उन्हें समर्पित कर देती हैं। तरुवर

---

१. आर्द्रा : 'खादी की चादर' : कविता : पृ. १२१
२. आत्मोत्सर्ग : पृ. ३५

भी वसंत से प्राप्त रूप, रस, गंध को सहर्ष ज्येष्ठ को समर्पित कर देते हैं। यहाँ कवि ने इन प्रतीकों के माध्यम से त्यागभावना का महत्त्व दर्शाकर मनुष्य को भी लोक हितार्थ कार्य करने की प्रेरणा दी है।

'दोनों ओर' कविता में कवि ने मानव की धन के प्रति अतिशय परिग्रह वृत्ति का चित्र अंकित किया है। पथिक एक ग्राम्य बालक को मुट्ठीभर कंकड़ लिये क्रीड़ारत गुनगुनाते देख विस्मयातिरेक से अपनी गति रोक लेता है। वह सोचता है कि बालक के हाथ में संचित वे कंकड़ साधारण नहीं, बल्कि अमूल्य रत्न है। वह उस बालक को बहला फुसलाकर उससे वह रत्न हथियाना चाहता है। बालक चाँदी के सिक्के के बदले वह कंकड़ उस पथिक को दे देता है। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे को छलते हैं और मानसिक चोरी करते हैं।

'मृण्मयी' की 'लाभालाभ' कविता में भी कवि ने गांधीवादी अपरिग्रह सिध्दांत को ही निरूपित किया है। इसमें कवि ने गांधीवादी निवृत्तिमूलक त्याग भावना की ओर संकेत करते हुए कहा है कि अधिक लोभ दु:ख का कारण है तथा त्याग में ही सुख शांति निहित है :

"सफल कर लेने निज निज नेत्र,
देख वह विमल ध्वंस का क्षेत्र;-
जहाँ मिट्टी को स्वर्ण-सुयोग,
त्याग में अतुल विभव का भोग।"[१]

"गांधीवाद प्रवृत्ति के नहीं निवृत्ति के मार्गपर चलता है।"[२] किंतु यह निवृत्ति कर्म रहित होकर सन्यास का उपदेश नहीं देती। इसका मानव जीवन से गहरा संबंध है।

'पुनरपि' कविता में भी कवि ने मनुष्य की अतिशय परिग्रह वृत्ति का ही चित्र अंकित किया है। एक विदेशी पारस पत्थर की तलाश में भटकता

---

१. मृण्मयी : 'लाभालाभ' कविता : पृ. २८
२. गांधीजी की देन : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद : पृ. ५७

है। वह नदी के तट पर एक बालक के हाथ से उस पत्थर को बलपूर्वक छीन लेता है और उसे मार कर नदी में डूबो देता है। किंतु जब वह उस पत्थर को लेकर घर लौटता है तो वह पत्थर पुन: लौहवलय हो जाता है। उसका मन इस घटना से उव्दिग्न हो जाता है और वह पुन: उसी वस्तु को पाने के लिये कार्यरत होता है। यहाँ कवि ने मनुष्य व्दारा अपनाये जानेवाले छलछद्म को प्रकट किया है तथा उसकी परिग्रह वृत्ति की आलोचना कर साधन की शुध्दता के प्रति आग्रह प्रकट किया है।

'भोला' में कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि गरीबों के लिये सद्भावना से खर्च किया जानेवाला अल्प धन भी महत्वपूर्ण है। भोला को एक रुपया राजा के यहाँ से दान में मिलता है जिसे पाकर उसका मन प्रसन्न हो जाता है क्योंकि वह एक निर्धन बुढ़िया की सहायता करना चाहता है। उसे इस बात का संतोष है कि वह इस रुपये से उस निर्धन बुढ़िया की सहायता कर सकेगा। यद्यपि वह स्वयं निर्धन है, किंतु अपनी अनासक्ति के कारण ही जब राजा की ओर से बुलावा आता है तब वह अपने लिये कुछ भी न माँग केवल एक ही रुपये की याचना करता है :

"सोचकर, कोई अपराध हुआ मुझसे ।
बोला झट - "एक न दें, दें तो बस आधा ही,
काम इतने से ही चला लूँगा वह अपना।"[१]

इन पंक्तियों में उसका अपरिग्रह ही प्रकट हुआ है। चूंकि उसका हेतु मंगलकारी है अत: वह एक रुपया जो राजा की दृष्टि में नगण्य है वह भी मूल्यवान हो उठता है। भोला की इस अनासक्ति को देखकर राजा उसपर मुग्ध हो जाता है और उसे अधिक धन देकर अपमानित नहीं करता। उसे भोला के उस एक रुपये के सामने अपना संपूर्ण धन वैभव नगण्य सा प्रतीत होता है तथा उसे अपनी परिग्रह वृत्ति पर पश्चाताप होता है :

---

१. मृण्मयी : 'भोला' कविता : पृ. १४३

"मैंने भ्रांत मति से
आँक ही न पाई महाशक्ति महादानी की;
माँग बैठा मृण्मय नगण्य यह धन मैं,
कौड़ी भी नहीं जो उसे। भोला ही चतुर है,
एक रुपया जो ले गया है बड़ा करके।"[१]

यहाँ कवि ने लोक कल्याण की दृष्टि से किये जानेवाले धन संग्रह को उचित माना है तथा उसकी सराहना की है। संक्षेप में कवि ने भोला के चरित्र द्वारा यही प्रकट किया है कि लोक कल्याण एवं मानव सेवा के निमित्त खर्च किया जानेवाला धन अल्प होते हुए भी मूल्यवान है। राजा के चरित्र के माध्यम से कवि ने व्यक्तिगत स्वार्थभावना से संचित धन वैभव को मिट्टी के समान नगण्य बताया है तथा उस धन को लोक कल्याण के निमित्त व्यय करने का आग्रह प्रकट किया है।

'बापू'में कवि ने गांधीजी के त्यागमय रूप की ही अभिव्यक्ति की है। गांधीजी वैरागी अर्थात दैहिक चिन्ताओं से मुक्त थे। गृहस्थ होते हुए भी वे सदैव अगेही अर्थात् बेघरबार वाले ही रहे। वे इतने त्यागी थे कि बिना किसी आकर्षण या विकार के स्वर्ण, हीरा, मणि मुक्ता के हार को भी मिट्टी के समान तुच्छ जानकर तज सकते थे :

"हे विदेह,
गेही भी सदैव तुम हो अगेह;
फेंक सकते हो तुम्हीं निर्विकार,
मृत्तिका-समान हेम-हीर-मणि मुक्ता-हार।"[२]

इन पंक्तियों में बापू की अपरिग्रह वृत्ति की ही अभिव्यक्ति हुई है। 'नकुल' काव्य में भी कवि ने भोग की अपेक्षा त्याग और विरक्ति के मार्ग का ही समर्थन किया है। काव्य की सम्पूर्ण भावना इसी मूलभाव पर केन्द्रित

---

१. मृण्मयी : 'भोला' : पृ. १४६
२. बापू : पृ. ३०

है कि हमें अपने से छोटे व्यक्ति के प्रति प्रेम भावना रखनी चाहिए। छोटों के विकास के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए। छोटों के लिये त्याग करने की इस भावना में गांधीवादी हृदय परिवर्तन सिध्दांत ही प्रतिपादित हुआ है। उन्होंने युधिष्ठिर के चरित्र के माध्यम से त्याग के आदर्श को हमारे सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। युधिष्ठिर का सम्पूर्ण जीवन दर्शन त्याग की भावना से ओतप्रोत है। उनके जीवन सिध्दांत में मानव समाज का कल्याण ही अंतर्निहित है, इसमें किसी के अहित की भावना कतई नहीं :

"रुष्ट नहीं हूँ तात, न अपना मार्ग धरूँ क्यों
तुष्ट न यदि कर सकूँ, किसी को रुष्ट करूँ क्यों ?"[१]

कवि अल्प संतुष्ट है। उसे बाहय सत्कार या थोथी यशलिप्सा नही है। कर्तव्यपालन व्दारा प्राप्त आत्म संतोष को ही वह अपनी सर्वोत्तम उपलब्धि मानता है :

"इष्ट नहीं है अधिक, मिल रहा है बहुतेरा;
मेरा अपना कार्य पारितोषिक है मेरा।"[२]

कवि की दृष्टि में बडों को छोटों के लिये त्याग करना धर्म है। "पूर्ण अपरिग्रह पूर्ण प्रेम का परिणाम है और इसका अर्थ है पूर्ण त्याग।"[३] कविने युधिष्ठिर के चरित्र में इसी गांधीवादी त्याग भावना को प्रकट किया है :

"लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको।
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुत्तम को।"[४]

कवि ने छोटों को सम्पत्ति का अधिकारी बताकर पारिवारिक संघर्ष का समाधान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की त्यागभावना से संपत्ति विषयक संघर्ष से उत्पन्न हिंसा की संभावना कम हो जाती है। गांधीजी का भी

---

१. नकुल : पृ. २२
२. वही : पृ. ३६
३. सर्वोदय तत्वदर्शन : गोपीनाथ धवन : पृ. ८३
४. नकुल : पृ. ११२

मानना था कि "सम्पत्ति में आसक्ति के कारण अवनति होने लगती है संसार में बहुत सी हिंसा का कारण सम्पत्ति संबंधी झगड़े हैं।"[1] यहाँ सियारामशरणजी ने बड़ों का छोटों के लिये स्वेच्छा से सम्पत्ति त्याग और छोटों के अधिकार को प्रकट कर इस समस्या के समाधान का आसान सा उपाय हमारे सम्मुख प्रकट किया है तथा आधुनिक युग के ज्वलंत समवितरण के प्रश्न का समाधान त्याग में दिया है।

इसमें कवि ने युधिष्ठिर और नकुल के चरित्र को नवीन रूप में उभारा है। उनकी दृष्टि में धर्म का संरक्षण तभी हो सकता है जब बड़े और छोटे दोनों ही परस्पर एक दूसरे के लिये त्याग करें। निम्न पंक्तियोंमें त्याग का यही आदर्श प्रकट हुआ है :

"छोटे के भी लिये बड़े से बड़ा समर्पण,--
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण।"[2]

यहाँ कवि ने त्याग व्दारा मानवता का आदर्श प्रतिष्ठित किया है। त्यागमें ही मानवता का रूप निखरता है। युधिष्ठिर इसी त्याग भावना से प्रेरित होकर अपने सगे भाई को जीवित करने की अपेक्षा सौतेले भाई को जीवित देखना चाहते हैं, यही त्याग है, इसीमें मानवता का आदर्श सुरक्षित है। सियारामशरणजी ने दान की सात्त्विक वृत्ति का भी समर्थन किया है। वे दान को स्वयं प्रतिदान मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि दानी का कोष युगयुगांत तक भी क्षय नहीं होता :

"दान स्वयं प्रतिदान, काल में अक्षय, अक्षत!
यह वह ज्योतिष्कणा काल जिसको कर सुरुचिर,
देता है प्रति तिमिर-मूर्च्छिता निशि को फिर फिर।
युग-युगांत तक निःस्व नहीं होगा वह दानी।"[3]

---

१. सर्वोदय तत्वदर्शन : गोपीनाथ धवन : पृ.८८
२. नकुल : पृ.११०
३. वही : पृ.११६

मानव धर्म के अंतर्गत शील, त्याग, सहनशीलता, अक्रोध ,अद्रोह आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काव्य में इन सभी धर्मों के व्यवहार के प्रति आग्रह प्रकट हुआ है।

इस काव्य में कवि ने जहाँ युधिष्ठिर के माध्यम से त्याग के महत्त्व को प्रकट किया है, वहीं दुर्जय और वृजसेन की परिग्रह एवं स्वार्थ भावना तथा उनके विनाश के चित्रण व्दारा इन दुष्प्रवृत्तियों के त्याग के प्रति आग्रह प्रकट किया है। हम जिस चीज को एक बार त्याग चुके हैं उसे बारबार लालायित दृष्टि से देखना या उसका मोह करना उचित नहीं है। यह कार्य तो उसे ही रुचिकर प्रतीत होता है जो मनुष्य काल के कारण भ्रांत हो गया हो। जो मनुष्य महाकाल में भी जागृत रहता है, उसे किसी तुच्छ वस्तु का मोह आवृत्त नहीं कर सकता। हमें तो लगातार अशांत रहकर भी बढते रहना है, हमें तब तक क्षण भर भी विश्राम नहीं करना है, जब तक कि हम मृत्यु के क्रीड़ांगण में न पहुँच जायँ।

'उन्मुक्त' में भी कवि ने वृध्दा नारी की त्यागभावना का ह्दयग्राही चित्र अंकित किया है। उस वृध्दा का पौत्र युध्द क्षेत्र में अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो चुका है। वह वृध्दा स्वयं निर्धन है, फिर भी वह अपने पास जो कुछ भी है, उसे दान करना चाहती है। यद्यपि वृध्दा के व्दारा दिया जानेवाला दान परिमाण में बहुत अल्प है, किंतु उसकी नि:स्वार्थ त्यागभावना, एवं लोक कल्याण की भावना के कारण ही मृदुला की दृष्टि में उस धन का मूल्य व्दिगुणीत हो जाता है। अभी तक प्राप्त धन में वह वृध्दा व्दारा दिये गये दान को सर्वश्रेष्ठ मानती है क्योंकि उसके पीछे वृध्दा के ह्दय की देश के लिये सब कुछ त्यागने की पवित्र भावना है। निम्न पंक्तियों में कवि ने वृध्दा व्दारा दिये गये धन के महत्त्व को प्रकट किया है :

"धन यह पाकर बताऊँ तुम्हें माता, क्या
प्राप्त किया मैंने कितना क्या ? इस निधि से

ऊँची निधि मैंने किसी मानी किसी दानी से
आज तक पाई नहीं।"[1]

एक बार बापू को भी स्वतंत्रता आंदोलन के लिये एक वृध्दा ने दान दिया था। बापू ने उस दान की बड़ी प्रशंसा की थी। कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों में उसी प्रसंग को चित्रित किया है। देशप्रेमी के रूप में वृध्दा को चित्रित कर इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि दान का महत्व उसके परिमाण से नहीं, बल्कि दान देने के मूल में छिपी हुई भावना से है।

'गोपिका' में भी सियारामशरणजी ने सत्यभामा, मंजु और निम्बा के अपूर्व त्याग का चित्रण किया है। नारद ने सत्यभामा को समझाया था कि यदि वह कल्पवृक्ष को जन जन का, संपूर्ण धरा का मानती है, तो उस पर उसका एकाधिकार उचित नहीं है। नारद की सलाह पर सत्यभामा पारिजात के साथ मुकुन्द को भी सादर समर्पित कर देती है जिससे उसके अपूर्व त्याग और उदारता का परिचय मिलता है। सत्यभामा के त्याग से प्रेरणा पाकर मंजु भी दक्षिणा के रूप में तुलसी की श्याम मंजरी के साथ श्याम को भी अर्पित कर देती है। निम्बा भी यह कह कर "तुलसी की श्याम मंजरी अपनी कुटी के साथ मैं भी अपने श्याम को भद्र तुम्हें समर्पित करती हूँ कृपया इसे स्वीकार करें।" श्याम को समर्पित कर देती है। इस तरह सत्यभामा, मंजु और निम्बा का संपूर्ण सृष्टि के हित के लिये श्याम को समर्पित कर देना उनकी त्यागभावना की ओर संकेत करता है। अंत में इन्दु भी अपनी वृंदवाटिका के साथ केशव को समर्पित करके स्वस्ति की संधान के लिये निकल पड़ती है। निम्न पंक्तियों में भी कवि ने दान के महत्व को ही प्रतिपादित किया है :

"देने का सुख भी अतुल तात,
यह नव प्रभात-यह नव प्रभात।"[2]

जिस तरह अंधकारपूर्ण रात्रि स्वयं श्रीहीन होकर सूर्य का प्रकाश

---

१. उन्मुक्त : पृ.६४
२. गोपिका : पृ.२०८

सर्वत्र विकीर्ण करती है, और यह दान देकर पुन: अपनी संपत्ति की खोजमें निकल पड़ती है उसी प्रकार हमें भी बिना किसी मलिनता के त्याग करना चाहिए। इससे दान भी अमूल्य हो उठता है।

'एक बूंद' कविता में कवि ने यह बताया है कि जिस प्रकार सिपी कठिन साधना के उपरांत स्वाति नक्षत्र के बादलों से जल की मात्र एक ही बूंद पाकर अमूल्य मोती अपने भीतर पैदा करती है, वैसे ही हमें साधना में निरत हो त्याग पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए जितना भी मिले उसीमें संतुष्ट रहना चाहिए।

'बाबा' कविता में भी बापू, गौतम और बाबा के चरित्रों से लाभ उठाते हुए त्याग का मार्ग अपनाने का आग्रह प्रकट किया गया है। इस तरह सियारामशरणजी की अधिकांश कृतियों में त्याग का आदर्श ही प्रकट हुआ है जो कि गांधीदर्शन का ही प्रभाव है।

अस्वाद सिध्दांत का समर्थन :-

गांधीदर्शन में अस्वाद सिध्दांत का भी महत्वपूर्ण स्थान है। केवल स्वाद के लिये स्वादिष्ट भोजन लेना वे अनुचित मानते हैं। सियारामशरणजी ने यद्यपि अस्वाद के बारे में अपने विचार कहीं भी प्रकट नहीं किये हैं किंतु 'गीता संवाद' में शरीर पोषण के लिये खाये जानेवाले खाद्य पदार्थ को अनुचित बताया गया है :

"संत निष्पाप होते हैं खाते यज्ञावशेष जो,
पापी वे पाप भोजी हैं राँधते जो स्वहेतु ही।"[१]

अभय का निरूपण :-

सत्याग्रही के लिये वीरता सबसे बड़ा गुण है और सच्चा वीर कभी भयभीत नहीं होता। जो सभी प्रकारके भय पर विजय पा लेता है उसके

---

१. गीता संवाद : तृतीय अध्याय : १३ वाँ श्लोक - पृ. ४०

लिये सत्य साक्षात्कार के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सियारामशरणजी ने अपने धार्मिक विचारों के अंतर्गत अभय के महत्व को स्वीकार किया है तथा अपनी कविताओं में उसकी अभिव्यक्ति की है। 'मौर्य-विजय' में भारतीय एवं यूनानी सैनिकों की वीरता, पराक्रम एवं अभय के चित्रण में गांधीवाद के इसी सिध्दांत की पुष्टि हुई है। ये सैनिक देश की सुरक्षा को ही अपना परमधर्म मानते हैं अत: उन्होंने अपना सर्वस्व देश को समर्पित कर दिया है। उनमें वीरोचित साहस एवं शौर्य है, उन्होंने मृत्युभय को भी जीत लिया है, अभय ने उनमें आत्मविश्वास जगाया है। इसी आत्मविश्वास के सहारे वे जीवन संग्राम में दृढ़तापूर्वक बढ़ने का विश्वास प्रकट करते हैं :

"है पृथ्वी में कौन वस्तु वह जिसके व्दारा-
हो सकता गतिरोध तनिक भी कभी हमारा ?
दुर्गम गिरि, वहिन, प्रबल पानी की धारा-
सभी सुगम हैं हमें जानता है जग सारा।"[1]

इन पंक्तियों में युध्द मैदान में जाने के लिये सन्नध्द सैनिकों की निर्भयता का ही संकेत मिलता है।

'आत्मोत्सर्ग' में भी विद्यार्थीजी के अहिंसक सत्याग्रही के निर्भय रूप के ही दर्शन होते हैं। जब विद्यार्थीजी हिन्दुओं की सहायतार्थ पहुँचते हैं तब उन पर आक्रमण करने के लिये कुछ लोग वहाँ आ उपस्थित होते हैं। कुछ सज्जन मुसलमान साथी विद्यार्थीजी को जान बचाकर भागने को उकसाते हैं किंतु विद्यार्थीजी नामर्द नहीं है। वे निर्भय होकर तनकर खड़े हो जाते हैं और अपनी दृढ़ता का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं :

"छोडो" तनकर कहा उन्होंने
"छोडो मुझे, यहीं हूँ मैं,
नहीं भागना सीखा मैं ने,
वह नामर्द नही हूँ मैं।"[2]

---

१. मौर्य विजय : पृ. ३८
२. आत्मोत्सर्ग : पृ. ६३

विद्यार्थीजी की दृष्टि में हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों के लोग समान थे अत: उन्होंने दोनों की मुक्ति का प्रयत्न किया। उन्होंने भयभीत हिन्दुओं में शक्ति का संचार करते हुए उन्हें अभयदान दिया :

"सुनो भाइयों, बहनों, माँओ,
है गणेश शंकर जब तक;
देखें कौन उठा सकता है
उँगली तक तुम पर तब तक।
आग लगेगी यदि इस घर में
तो यह प्रथम जलूँगा मैं;
मेरा दृढ़ निश्चय है, इससे
नहीं कदापि टलूँगा मैं।"[१]

उनसे अभयदान पाकर भयभीत लोग घिरे हुए घर से बाहर निकले। उनके अविरल अश्रु सुमन दु:ख से सुख में परिवर्तित हो बरसने लगे। इसी प्रकार जब विद्यार्थीजी अपने चार साथियों के साथ निर्भय होकर अत्याचार मिटाने लगे। उस समय रास्तें में ही कुछ धर्मांध मुसलमान लोग उनपर टूट पड़े। तब विद्यार्थीजीने निर्भय खड़े होकर उन्हें समझाया कि अरे खुदा के बंदे, रूको और होश में आओ तुम क्या करने जा रहे हो ? तुम में जो शैतान सवार है वह तुम्हे गलत रास्ते पर ले जा रहा है। मगर मैं कायर बन कर भागने के लिये नहीं आया हूँ। इसलिये तुम लोग मुझे भले मारो, मगर मैं कायरों के समान मुँह नहीं मोड़ूँगा। धर्म की उन्नति के लिये अपनी बलि देने को तैयार होकर विद्यार्थीजी ने उन धर्मांध मुसलमानों से कहा यदि मेरे खून से तुम्हारा इस्लाम फूलेफले तो मेरा खून हाजिर है। धर्म की रक्षा के लिये भी वे अभय के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

भक्ति खाँडे की तेज धार पर चलने के समान कठिन है। अत: धार्मिक व्यक्ति के लिये साहसी एवं निर्भय होना अपेक्षित है। विद्यार्थीजी कायरता को नामर्दगी समझते थे। आखिर उन्होंने मुसलमानों की अतृप्त प्यास

---

१. आत्मोत्सर्ग : पृ. ४६

को अपना खून बहाकर तृप्त कर दिया जो उनके अभय का द्योतक है। 'बापू' में भी कवि ने महात्माजी के अभयदान का यशोगान किया है। बापू स्वयं सच्चे सत्याग्रही थे, फिर उनमें भय कैसा ?

"कितना नवेलापन।
भूला वह अपना अकेलापन;
प्रेम की पताका लिये करमें
निर्भय निरस्त्र बढ़ा सत्य के समर में।"[१]

गांधीजी की सबसे बड़ी देन है - अभयमंत्र । महादेव भाई देसाई ने इस बारे में लिखा है "जैसा अभयमंत्र बापू ने दिया वैसा शायद ही किसी ने दिया होगा। करागृह तो भय का एक प्रतीक मात्र है। बापू ने तो कह दिया, सब को सत्य का कवच पहने हुए और अहिंसा की तलवार लिये कारागृह तथा नरकागृह और उससे भी भयावने स्थान में चले जाना चाहिए। जिसने उनका अभयमंत्र सीखा, अपनाया, उसपर अमल किया उसने मुक्ति का दर्शन किया।"[२]

"विस्मय है, तुम हे अमर छात्र,
जान गये कैसे डाल दृष्टिमात्र
रुध्द-बध्द भर के निलय में
संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।"[३]

बापू का आग्रह यह है कि हमें अपूर्व आत्मशक्ति अर्जित करनी चाहिए जिससे निर्भय होकर परिस्थितियों का सामना किया जा सके। उन्होंने विश्व की मानवता को अभयदान दिया :

"निगल रही है इस जगती को
लौह-यंत्रिणी दानवता;
पड़ी धूल में है बेचारी
आज विश्व की मानवता।

---

१. बापू : पृ. ५५
२. बापू :'भूमिका' - महादेवभाई देसाई - पृ. ७ से उद्धृत
३. बापू : पृ. ३६

दान अभयता का दे तूने
उसे उठाया नीचे से,
फिर से झलक उठी है उसमें
जागृत जीवन की नवता।"[१]

महात्मा गांधी ने आतंक से युक्त विश्व की पीड़ित जनता के हृदय में ज्ञानका दीप जलाया। उन्होंने समझाया कि दीन दुर्बल जन जग में दीन हीन नहीं है। उनका अस्त्र निरस्त्र है और वे अजेय हैं अपने आत्मबल से। दूसरों की अपारशक्ति छल से मुक्त हैं, और वे केवल अपने अधीन है। इस प्रकार त्रस्त मानवता को अभयदान देकर गांधीजीने शोषितों का सबसे बड़ा उपकार किया। गांधीजीने जगत की पीड़ित शोषित एवं दलित जनता को अहिंसा और सत्याग्रह का अस्त्र देकर निर्भय बनाया :

"जिसने किया है महातंक छिन्न,
विश्व के प्रपीड़ितों के अंतर से;
बोध का प्रदीप दीप्त करके
जिसने दिखाया-दीन दुर्बल नहीं है हीन;
वह है निरस्त्र भी महत्वासीन,
अपने अजेय आत्म-बल से;
अन्य के अपार शक्ति-छल से
मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन।"[२]

गांधीजी निर्भय, निःशंक और दृढ़मनोबलवाले पुरुष थे। उनका जीवन विरज समीर के समान वासना रहित था। वे मुक्त थे उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं था :

"आता देख निर्भय अशंक अविचल को
विरज समीर की लहर-सा!
वह तो अरुद्ध, उसे डर क्या ?"[३]

---

१. पाथेय : 'शुभागमन' कविता : पृ. १०७
२. बापू : पृ. ६०
३. वही : पृ. ५६

उनके लिये जय-अजय, संकट-असंकट, भय-अभय एक समान ही था। गांधीजीने जिस समय सत्य के समर में कदम कूच की उस समय परिस्थितियाँ उनके बिलकुल प्रतिकूल थीं। उनके मार्ग में प्रत्येक कदम पर दुर्दय विभीषिकाएँ अपना क्रूर मुख खोले खड़ी थीं। सभी तीक्ष्ण धारवाली तलवारों को लिये एक दूसरे का वध करने पर तुले हुए थे। सर्वत्र निराशा एवं अंधकारपूर्ण वातावरण फैला हुआ था, विनाश की बिजलियाँ तड़क रही थीं, काल की उस आँधी में बापू का छोटा सा दीपक अपनी आभा को बचाये रखने में असमर्थ था, किंतु बापू निर्भय सत्याग्रही थे अत: कातरपुकार सुनकर मानवता की सेवा के निमित्त वे महाभिनिष्क्रमण को निकल पड़े और विपरीत परिस्थितियों में भी अपने मार्ग से विचलित न होकर निरंतर सत्य के मार्गपर अग्रसर होते रहे। उधर पशुत्व का भीषण क्रोध ज्वालामुखी की तरह तेज गति से बांध की तरह फूट पड़ा। अत्याचार एवं यातना के आधिक्य के कारण अनंत में चारों दिशाएँ भय सेकम्पित हो उठी थी। सर्वत्र हाहाकार फैला हुआ था और पीड़ा युक्त कातर ध्वनि गूँज रही थी। ऐसे में भी एकमात्र बापू ऐसे निश्चल व्यक्ति थे जो पहले की भाँति कंपन रहित बने रहे :

"कम्पित अनंत में दिशाएँ हुईं चारों ओर,
गूँज उठा हाहाकार आर्ति-रोर,
तो भी, अरे तो भी वहाँ एक वह निश्चल था
पूर्व-सा अकम्पित, अटल था
निर्विशंक, निर्विरोध
पाकर दृढ़ाग्रह में सत्यशोध!"[1]

इन पंक्तियों में सत्याग्रही के निर्भय रूप की झाँकी ही प्रस्तुत की गई है। साम्प्रदायिकता की आग के कारण वैर की ज्वाला अधिक उत्तेजित एवं प्रखर होती गई। वह स्थान धुएँ का गुंगाटा भरे धाँय धाँय कर जल उठा। सब के मन भय से विषाद युक्त तथा शोकमग्न हो गये थे। वे भयभीत हो निस्पाय से खड़े थे। तभी किसी माता का व्यथित रोर सुनाई दिया। उसका लाल उस जलते हुए मकान में फंस गया था। वह सहायता के

---

१. बापू : पृ. ५७

लिये पुकार रही थी। उस समय गांधीजी ने जनता में शक्ति का संचार करते हुए कहा :

"भीत न हो, भीत न हो डर से"
उसका पुनीताव्हान आ रहा है भीतर से-
"धाम यह विस्तृत है धूममय,
भीतर नहीं है अभी वैसा भय;
छिन्न कर भीति-जाल
आओ हो, निकाल लें कहाँ है वह माँ का लाल।"[१]

यह कहकर वे स्वयं उस बालक को बचाने के लिये अग्नि में कूद पड़े। वहाँ लोग डर से निश्चेष्ट खड़े हुए उनके बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे। सब यही कामना कर रहे थे कि वह बिना किसी चोट लगे अपना कार्य पूर्ण कर लौट आवे। इस प्रसंग में गांधीजी के निर्भय रूप का ही परिचय मिलता है।

'जागरण प्रसंग' में भी कवि ने अभय को जगाने का उद्बोधन दिया है :

"नव जागरण-प्रसंग-
जाग तू उज्वल अभय अभंग!
रूक्ष रसा के अंतस्तल से
ला भर भर कर रस के कलसे।
अचला के चिर-चंचल हे
सुमन-सुहाग-सुरंग,
जाग तू मेरे अभय अभंग।"[२]

'नकुल' में कवि ने द्रौपदी और अर्जुन के संवाद व्दारा इस ओर संकेत किया है कि मार्गशूलों का भय करना उचित नहीं है। वह क्या बाधा है जिसे नर और धनंजय गला न दें। कोई मनस्वी किसी भीति या डर से

---

१. बापू : पृ. ७३
२. दैनिकी : 'जागरण-प्रसंग' कविता : पृ. १३

प्रभावित नहीं होता। 'निशांत' में भी बापू के निर्भय रूप की झाँकी ही दिखाई देती है। इसमें कवि ने राष्ट्रपिता बापू के प्रति अपनी सच्ची श्रध्दा एवं आदर की भावनाएँ अभिव्यक्तकर 'नोआखली में' उनके प्रवेश से वहाँ के जनजीवन में होने वाले प्रभाव का निरूपण किया है।

"जागी यह अंतर्ज्योति अभय में फिर से,
पनपा अमलिन आश्वास हृदय में फिर से।"[१]

इस तरह हम देखते हैं कि सियारामशरणजी ने अपनी अधिकांश कविताओं में गांधीवादी अभय सिध्दांत का निरूपण किया है और सत्याग्रही के निर्भय रूप का चित्रण भी किया है। गांधीजी व्दारा दिये गये अभयदान का वर्णन कवि ने किया है।

स्वदेशी की गरिमा :-

गांधीजी के धार्मिक दृष्टिकोण के अंतर्गत स्वदेशी सिध्दांत को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। स्वदेशी व्रतधारी अपने व्रत का पालन करने के लिये अपने ही देश की बनी हुई वस्तुओं का उपयोग करता है। उनके अनुसार "स्वदेशी धार्मिक अनुशासन है, जिसका पालन व्यक्ति को उससे होनेवाले शारीरिक कष्ट की बिलकुल उपेक्षा करके करना चाहिए। स्वदेशी हृदय की भावना है जिसमें स्वदेश सेवा की भावना निहित है।"[२] सियारामशरणजी को भी स्वदेश में बनी चीजों से विशेष प्रेम था खासकर खादी उन्हें अत्यंत प्रिय थी। श्वास रोग के कारण वे स्वयं सूत तो नहीं कात सकते थे, किंतु वे खादी के बने कपड़ों की ही पोशाक पहनते थे, इससे उनका स्वदेश प्रेम ही झलकता है। सियारामशरणजी ने यद्यपि स्वदेशी के प्रति अपने विचार प्रत्यक्ष रूप में तो कविताओं में व्यक्त नहीं किये हैं किंतु एक लेख में विदेशी वस्तुओं के मोह के प्रति क्षोभ व्यक्त हुआ है - "पोशाक की कोई बात नहीं। उसका स्वराज्य तो बहुत पहले हमें प्राप्त हो चुका है। और कुछ न हो, हमारी पोशाक में जूता विदेशी होना ही चाहिए। इसके बिना न्यायालयों की सार्वजनिक

---

१. नोआखली में : 'निशांत' कविता : पृ. ५०
२. गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव : डॉ. अरविंद जोशी पृ. ७२

सीमा में भी हमारा प्रवेश नहीं हो सकता। इस तरह बहुत दिन तक पहन चुकने के कारण, हमारे पैर में क्या, मन में भी अब यह कोई छाला पैदा नहीं करता।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि को विदेशी वस्तु का प्रयोग होते देखकर वेदना होती थी। 'खादी की चादर' शीर्षक कविता में खादी का उल्लेख इसी भावना की ओर संकेत करता है।

शारीरश्रम तथा स्वावलंबन :-

गांधीजीने शारीरिक श्रम को विशेष महत्त्व दिया है। जो मनुष्य अस्तेय और अपरिग्रह का पालन करता है, वह स्वावलम्बी होता है। जो रोटी खाता है, उसे मजदूरी करनी चाहिए। शारीरश्रम में गांधीजी बौध्दिक श्रम को सम्मिलित नहीं करते। इस विषय में उनका कहना है कि "शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति शरीर व्दारा ही होनी चाहिए केवल मानसिक या बौध्दिक श्रम आत्मा के लिये है।"[2] गांधीजी का विचार था कि "शारीरिक श्रम के आधारपर ही संसार में समानता स्थापित की जा सकती है क्योंकि श्रम के व्दारा ही मानवता को एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है; समानता स्थापित की जा सकती है, ऊँचनीच का भेद मिटाया जा सकता है एवं पूंजी और श्रम निर्धन और धनी के मध्य शांतिपूर्ण संबंध स्थापित किया जा सकता है।"[3]

सियारामशरणजी ने भी श्रम संबंधी अपने विचार प्रकट किये हैं। 'बापू' में कवि ने पुस्तक का आरंभ सरस्वती वंदना से किया है। इसमें कवि ने कर्म और वाणी का या श्रम और सरस्वती के मिलाप की इच्छा प्रकट की है। श्रम में ईश्वरता का आभास पानेवाले संत श्री सियारामशरणजी श्रम और सरस्वती का संगम ही संसार के सम्मुख प्रकट करना चाहते हैं :

"वाणी के मंदिर में आकर
कर्म स्वयं झंकृत है आज;

---

१. झूठ-सच : 'अन्य भाषा का मोह' लेख से : पृ. ३२
२. गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव : डॉ. अरविंद जोशी पृ. ७२
३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में गांधीवाद : डॉ. कुमारी शैलबाला : पृ. ५५

गिरा अर्थ से, अर्थ गिरा से
सादर समलंकृत है आज।"[1]

'स्वाश्रयी' कविता में कवि ने मनुष्य को स्वयं अपना आत्मविश्वास जोतने, निर्भय होने और अपने पैरों पर खड़ा होने का संदेश दिया है। आश्रयहीन मानव को यह अमर संदेश दिया गया है कि मनुष्य को दूसरे पर भरोसा नहीं करना चाहिए। उसे स्वयं ही स्वाश्रयी बनना चाहिए :

"व्योम कह रहा है -"रे मानव, कर न भरोसा मेरा,
मेरे निर्जन में डाले हैं बाध-बघेरे डेरा।"
सागर का कहना है - ओ नर, मेरी आशा निष्फल,
लिया वज्र उल्काओं ने हैं मेरा तल-अंतस्तल .....
कहता है उठता मनुष्य यह - मैं निश्चिंत अकम्पित;
आज स्वयं अपने ही ऊपर होता हूँ अवलम्बित।"[2]

इसमें स्वावलम्बी बनने का आग्रह प्रकट हुआ है।

'उन्मुक्त' में भी कवि ने श्रम की महत्ता को ही प्रदर्शित किया है। उनकी दृष्टि में शारीरिक श्रम करके कमाया जानेवाला अल्प धन विशेष महत्त्व रखता है। कवि ने गुणधर के व्दारा श्रम से पैदा की गई रोटी के महत्त्व को प्रतिपादित किया हैं :

"कहीं के कर्मालय में
जा पहुँचा तू स्फूर्ति समन्वित भाग्योदय में।
बहुतों से वह बहुत बड़ी, होकर भी छोटी,
स्वेद-सनी बन गई सलोनी तेरी रोटी।"[3]

---

१. बापू : पृ. ९
२. दैनिकी : 'स्वाश्रयी' कविता : पृ. २५
३. उन्मुक्त : पृ. ८६-८७

यहाँ कवि ने परिश्रम की अल्प कमाई को उन लोगों की आय से बड़ा बताया है जो बिना परिश्रम के पैदा की गई है। यही रोटी मधुर सलोनी है। बिना परिश्रम के कमाये गये धन का महत्त्व इसके सामने नगण्य है।

उपसंहार :-

इस प्रकार हम देखते हैं कि सियारामशरणजी के काव्य में गांधीवाद के ब्रहमचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्वाद तथा धार्मिक दृष्टिकोण संबंधी विचारों का सफल अंकन हुआ है। उन्होंने धर्म संबंधी गांधीवादी विचारों का पूर्ण समर्थन करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया है। तथा धार्मिक संकीर्णता की निंदा करते हुए बाहयाडंबरों पर प्रहार कर धर्म की सच्ची व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत की है।